Chapter 3,

भारतीय शास्त्रीय संगीत की वर्तमान स्थिति

EHTA LIBRARY

संगीत जगत के कलाकार, संगीतज्ञ तथा संगीत प्रेमी आदि सभी मानते हैं कि संगीत के क्षेत्र में अनेक सुविधायें प्राप्त होने के बाद भी संगीत कला का गुणात्मक स्तर अत्यधिक गिर रहा है। और यह केवल एक कारण से नहीं गिर रहा है अपितु इसके अनेक कारण हैं – जैसे दोषपूर्ण शिक्षा पद्धति, घराना शिक्षा पद्धति का लोप, साधना का अभाव, जीविकोपार्जन की चिन्ता, फिल्म संगीत का प्रभाव, पाश्चात्य संगीत का प्रभाव आदि। इन सभी समस्याओं का विस्तृत विवेचन, 'भारतीय संगीत की वर्तमान स्थिति' इस अध्याय के अंतर्गत पृथक-पृथक छोटे-छोटे अध्यायों में किया गया है। यही समस्यायें भारतीय संगीत की वर्तमान स्थिति को बनाती हैं। इन दोषों अथवा समस्याओं को जानने के बाद ही हम इनका निराकरण करके संगीत कला की उन्नति का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं। शास्त्रीय संगीत के लिये उत्तरदायी परिस्थितियों में सर्वप्रथम संस्थागत शिक्षा पद्धति का दोषपूर्ण होना संगीत जगत की एक बड़ी समस्या है। अतः सबसे पहले हमारे लिये इस समस्या का विश्लेषण करना ही महत्वपूर्ण है।

(अ) संस्थागत शिक्षा पद्धति का प्रभाव

आज भारतीय शास्त्रीय संगीत पर पड़ने वाले संस्थागत शिक्षा पद्धति के प्रभाव पर दृष्टिक्षेप करने से पहले संस्थागत शिक्षा पद्धति का प्रसार आज कहाँ तक हो चुका है कुछ इसके बारे में जानना आवश्यक होगा। संगीत के प्राचीन साहित्य में इस महत्वपूर्ण विषय 'संगीत की संस्थागत शिक्षा पद्धति' का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। यह हम पिछले अध्याय, 'भारतीय शास्त्रीय संगीत के इतिहास' में देख चुके हैं। वास्तव में संगीत विषयक

किसी भी प्राचीन ग्रंथ में संगीत कक्षाओं अथवा वर्गों का उल्लेख नहीं है; जहाँ लड़कों अथवा लड़कियों को शिक्षा दी जाती हो और वे संगीत का अभ्यास करते हों। अधिकांश शिक्षा व्यक्तिगत थी और गुरुकुल शिक्षा पद्धति के रूप में प्रचलित थी।

फिर भी कवि कालीदास द्वारा रचित 'मालविकाग्निमित्रम्' में दो उस्तादों हरदत्त और गणराज में नृत्य-शिक्षा पर प्रतिस्पर्धी और वाद-विवाद का रुचिकर उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें वे छात्र को नृत्य-कला की शिक्षा देने और उसमें कला के उचित प्रबोधन की क्षमता के विकास के सही तरीकों पर विचार-विमर्श करते हैं।[1] प्राचीन प्रासादों से सम्बंधित शिल्प शालायें और नाट्य शालायें संभवतः संगीत और नृत्य की कक्षायें ही थीं। इनका संचालन राज-दरबारों द्वारा किया जाता था, जिसका उद्देश्य समारोहों के अवसर पर उनके आदेश पर संगीत और नृत्य के कार्यक्रम प्रस्तुत करना था। प्राचीन तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला, तदन्तापुरी विश्वविद्यालयों में संगीत संकायों अथवा फैकल्टियों का उल्लेख मिलता है ये विश्वविद्यालय संगीत और नृत्य कलाओं के केन्द्र थे।[2] इस उल्लेख मात्र के अलावा हमें ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जिससे हम तत्कालीन शिक्षा प्रणाली, अध्ययन अध्यापन, पाठ्यक्रम, पुरुष अथवा महिला वर्गों के स्वरूप तथा अन्य विषयों के सम्बन्ध में समझ सकें। इसके पश्चात मानसिंह तोमर काल के उपरांत आधुनिक काल के पूर्व तक अन्य किसी राजा या महाराजा द्वारा संगीत विद्यालय स्थापित कराये जाने का प्रामाणिक उल्लेख हमें प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार के छुटपुट प्रयास

---

१ 'मालविकाग्निमित्रम्' अंक १ और २, २८पृ.

२ 'भारतीय संगीत का इतिहास', शरच्चंद्र परांजपे पृ. १६१

१९ वीं शताब्दी से प्रारंभ हुये। अंग्रेजी शासन की स्थापना के साथ ही संपूर्ण शिक्षा प्रणाली का पाश्चात्यीकरण प्रारंभ हुआ। 'मानवीकीय' और 'विज्ञान' के साथ-साथ ललित कलाओं एवं संगीत की शिक्षा भी गुरुकुल प्रणाली के स्थान पर संस्थाओं या विद्यालयों में सामुहिक रीति से प्रारंभ हुई। जनसामान्य में अधिकतम प्रचार-प्रसार, शिक्षण में नीयमबद्धता तथा स्तरीकरण के उद्देश्य से संगीत विषय की संस्थागत सामुहिक शिक्षण की विधि अपनाई जाना युग की आवश्यकता थी; इसके द्वारा ही अधिकतम व्यक्ति लाभान्वित हो सकते थे। पाश्चात्य देशों में पहले से ही इस शिक्षण विधि का व्यवहार अन्य क्षेत्रों के अलावा संगीत विषय में भी हो रहा था। हमारे देश में संगीत को घरानों के संकुचित दायरे से मुक्त कराकर जनसामान्य को सुलभ कराने के प्रयास १९ वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में यत्र-तत्र प्रारंभ हो गये थे। १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में तानसेन के वंशज बहादुर खाँ, जो प्रसिद्ध ध्रुपदिये थे। विष्णूपुर बंगाल में जाकर बसे तथा वहाँ संगीत का एक विद्यालय प्रारंभ किया। जिसमें गदाधर चक्रवर्ती, रामशंकर भट्टाचार्य, निताई वजीर आदि गायक तैय्यार हुये। रामशंकर भट्टाचार्य के शिष्यों में क्षेत्रमोहन गोस्वामी ने सन् १८६१ में कलकत्ता में एक संगीत विद्यालय की स्थापना की तथा संगीत को सामान्य जनों में प्रचारित करने का स्तुत्य प्रयास किया।[१]

पंडित भास्करराव बखले द्वारा पूना में १८६४ में 'भारत गायन समाज' नामक संस्था की स्थापना हुई। बम्बई में पारसियों द्वारा १८९० के पूर्व ही 'गायनोत्तेजन मंडल' की स्थापना की गयी। इसी मंडल में पंडित भातखण्डे जी ने रावजीबुआ बेलगांवकर से ध्रुपद एवं उस्ताद अली हुसैन खाँ से ख्याल गायकी की शिक्षा

---

१ 'भारतीय शास्त्रीय संगीत परम्परा में रवीन्द्र नाथ का स्थान' डा. अनीता सेन पृ. ६

पायी थी।[१]

सन् १८८० के कुछ पहले जामनगर में पंडित आदित्यराम ने संगीत के सामुहिक शिक्षण का प्रयास किया था।[२]

इस दिशा में निश्चित प्रयत्न सन् १८८६ में बड़ौदा में हुआ, जहाँ महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ द्वारा संगीत विद्यालय स्थापित किया गया।[३] यही विद्यालय बाद में, 'बड़ौदा स्टेट म्यूज़िक स्कूल' कहलाया।

स्वर्गीय विष्णू दिगम्बर पलुस्कर द्वारा, 'गांधर्व महाविद्यालय' की स्थापना लाहौर में हुई।[४] (सन् १९०१में)

सन् १९०६ में डा. एनीबेसेन्ट द्वारा, 'थियोसोफिकल विद्यालय' की स्थापना बनारस में की गयी, जिसमें संगीत को शिक्षा का एक विषय बनाया गया।

स्वर्गीय पंडित विष्णू नारायण भातखण्डे जी द्वारा सन् १९१८ में ग्वालियर में तथा सन् १९२६ में लखनऊ में संगीत विद्यालयों की स्थापना की गयी।[५]

लगभग इसी समय इलाहाबाद में, 'प्रयाग संगीत समीति' की स्थापना हुई।

सन् १९५० में वाराणसी में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अंतर्गत संगीत विभाग की स्थापना के पश्चात् देश के अन्य विश्वविद्यालयों में भी संगीत विभाग प्रारंभ करने की होड़ सी लग गयी। आज संगीत की शिक्षा हेतु जहाँ देश के लगभग हर नगर में संगीत विद्यालय खुल गये हैं, विश्वविद्यालयों में संगीत संकाय अथवा विभाग कार्यरत हैं, वहाँ लगभग सभी प्रांतों में, माध्यमिक एवं उच्च

---

१ 'भातखण्डे स्मृति ग्रंथ' पृ. ९

२ 'गान्धर्व महाविद्यालय मंडल के नवम् गोवा अधिवेशन', १९६६ डा. प्रेमलता शर्मा का भाषण।

३ कालेज आफ म्यूज़िक डान्स एन्ड ड्रामेटिक्स' बड़ौदा की १९५६ में प्रकाशित स्मारिका'

४ 'गायनाचार्य पं. विष्णू दिगम्बर पलुस्कर' प्रो. बी. आर. देवधर, पृ. ३३

५ भातखंडे स्मृतिग्रंथ' पृ. ३६९ तथा ४३

माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में भी संगीत को एक विषय की भाँति समाविष्ट किया जा चुका है।

आज संपूर्ण भारत में संगीत-शिक्षण की तीन विधियाँ प्रचलित हैं :—

१ प्राचीन गुरु-शिष्य परंपरा द्वारा।
२ केवल संगीत की शिक्षा प्रदान करने हेतु स्थापित विद्यालयों में।
३ सामान्य शिक्षा संस्थाओं में विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रम में एक विषय की भाँति।

आज गुरु-शिष्य परंपरा द्वारा संगीत शिक्षा की क्षीण रेखा विद्यमान होते हुये भी संस्थागत शिक्षा पद्धति द्वारा संगीत शिक्षा की व्यवस्था इस युग की विशेषता तथा आवश्यकता बन चुकी है। अतः इस युग में स्थापित की अग्रणी संस्थाओं के उद्भव एवं विकास का अवलोकन करना यहाँ समीचीन होगा।

आधुनिक संगीत शिक्षण संस्थाओं का जन्म व विकास-

१ कालेज आफ इन्डियन म्यूज़िक डान्स एण्ड ड्रामेटिक्स बड़ौदा —

स्थापना — संगीत को घरानों के संकुचित दायरे से मुक्त कराना तथा जन-जन को सुलभ कराना ही संगीत की संस्थागत शिक्षा प्रणाली का मूल उद्देश्य था। इस उद्देश्य से प्रभावित होकर, महान् कलाप्रेमी तथा संरक्षक सर सयाजीराव गायकवाड़ ने सर्वप्रथम इस देश में संगीत विद्यालय की स्थापना बड़ौदा नगर में सन् १८८६ फरवरी में की।[१] इस विद्यालय के प्रथम प्राचार्य के रूप में मौलाबक्श घिस्सेखाँ की नियुक्ति हुई। पहले ही साल में

---

१ 'कालेज आफ इन्डियन म्यूज़िक डान्स एण्ड ड्रामेटिक्स बड़ौदा' द्वारा सन् १९५६ में प्रकाशित स्मारिका से उद्धृत

अध्ययन हेतु ६० विद्यार्थियों ने प्रवेश लिया। यह संख्या आशा से अधिक थी। संगीत को प्रोत्साहित करने के लिये शिक्षा निःशुल्क प्रदान की जा रही थी, यही नहीं योग्य विद्यार्थियों को कई छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जा रही थीं।

अनेक छात्रों के साथ शिक्षा देने की समस्या तथा उनके उचित समाधान हेतु मौलाबख्श ने प्रथम बार संगीत की स्वरलीपी पद्धति का विकास किया तथा संगीत मूलाधार पुस्तक लिखी।1

महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ ने संगीत शिक्षण संस्थाओं की सुविधायें अपने राज्य के अन्य छोटे-बड़े नगरों में प्रदान करने के उद्देश्य से दभोई, नवसारी, पाटन, मेहसाना, तथा अमरेली नगरों में भी संगीत संस्थाओं की स्थापना करवाई।2

बड़ौदा के संगीत कालेज में देश के चोटी के घरानेदार कलाकारों की नियुक्ति शिक्षकों के रूप में की गयी थी। —

तसद्दुक हुसैन खाँ (आगरा), फैय्याज़ खाँ (आगरा), अज़ीम बख्श, करीम बख्श, फिदाहुसैन (रामपुर) आदि के द्वारा इस संगीत विद्यालय में संगीत के सामूहिक शिक्षण का श्रीगणेश किया गया।3

इसी बीच महाराजा गायकवाड़ ने पंडित भातखंडे जी को संगीत विद्यालय देखने एवं उसके विकास के लिये सुझाव देने के लिये आमंत्रित किया। पंडित भातखंडे ने जहाँ संगीत विद्यालय की प्रगति हेतु अनेक सुझाव दिये वहीं उनकी लिखी, संगीत संबंधी पुस्तकें संगीत शिक्षण के लिये पाठ्य-पुस्तकों के रूप में स्वीकार की

---

1 'कालेज ऑफ इन्डियन म्यूज़िक डान्स एण्ड ड्रामेटिक्स' बड़ौदा स्मारिका १९५६ से उद्धृत।
2 वही
3 वही

गयी। ३० जून १९५९ से इस संगीत विद्यालय को महाराजा सयाजीराव यूनीवर्सिटी एक्ट के अंतर्गत यूनीवर्सिटी की देखभाल में ले लिया गया।

३० जून १९५३ से इस संगीत विद्यालय का नामकरण 'कॉलेज ऑफ इन्डियन म्यूज़िक डान्स एण्ड ड्रामेटिक्स' कर दिया गया। संगीत विभाग के साथ नृत्य और नाट्यकला विभाग के बढ़ जाने से शैक्षणिक कार्यक्रमों को एक वृहत स्वरूप प्राप्त हुआ।[१]

२ गांधर्व महाविद्यालय

स्थापना — स्वर्गीय पंडित विष्णू दिगम्बर पलुस्कर जी ने जिस समय संगीत जगत में पदार्पण किया संगीत कला और संगीतज्ञ की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। श्री पलुस्करजी ने प्रतिज्ञा की कि संगीत कला को तथा कलाकार को समाज में प्रतिष्ठा दिलाये बगैर चैन से नहीं बैठूंगा। किसी सिद्ध पुरुष की प्रेरणानुसार पंडित विष्णू दिगम्बर जी ने पंजाब की ओर प्रस्थान किया। यहाँ लाहौर नगर में उन्होंने सन् १९०१ ई. के शुभ दिन, 'गांधर्व महाविद्यालय' की स्थापना की।[२]

यह विद्यालय प्रारंभ में १३/- मासिक के किराये के छोटे से मकान में चलाया गया। आर्थिक व अन्य कठिनाइयों के बीच विद्यालय चल निकला था। पंडितजी के वरिष्ठ छात्र छोटी कक्षाओं को सिखाते थे और स्वयं भी पंडितजी से शिक्षा ग्रहण करते थे। इन शिष्यों में सर्वश्री केशवराव दातार, गोविन्दराव आप्टे, बी. ए. कशालकर, खाण्डेकर, ब्रह्मनालकर, केशवरावकाले, जनार्दन थत्ते, शंकरराव

---

१ 'कॉलेज ऑफ इन्डियन म्यूज़िक एण्ड ड्रामेटिक्स बड़ौदा' स्मारिका १९५६ से प्राप्त

२ 'गायनाचार्य पंडित विष्णू दिगम्बर पलुस्कर' बी. आर. देवधर पृ.३३

पाठक, पंडित नारायण मोरेश्वर खरे और पंडित विनायकराव पटवर्धन आदि। शिक्षा ग्रहण करने के साथ ही अध्यापन तथा संगठन आदि के व्यवहारिक अनुभव के आधार पर इन शिष्यों ने भविष्य में संगीत क्षेत्र में देश की आवश्यकता पूर्ति किस प्रकार की यह सर्वविदित है।

पंजाब में अपने कार्यक्रम की सफलता से आश्वस्त होकर पंडित जी ने अब बंबई लौटने का कार्यक्रम बनाया तथा वहीं अपना स्थाई निवास बनाने का निश्चय किया। सन् १९०८ में जगद्गुरु शंकराचार्य के हाथों गांधर्व महाविद्यालय बम्बई का उद्घाटन सम्पन्न हुआ।[१] अब बंबई के विद्यालय को केन्द्र माना गया और लाहौर का विद्यालय शाखा हो गया। अगस्त १९३१ में पंडितजी के देहावसान के पश्चात्[२] उनके शिष्यों ने संगीत के प्रचार प्रसारार्थ अनेक नगरों में गांधर्व महाविद्यालय मंडल की शाखाओं की स्थापना की।

३ माधव संगीत महाविद्यालय ग्वालियर —

पंडित भातखण्डे द्वारा संगीत क्षेत्र में किये जा रहे महान् कार्यों की कीर्ति तत्कालीन ग्वालियर नरेश माधवराव सिंधिया ने सुनी जो स्वयं एक कुशल संगीतज्ञ थे। श्री माधवराव सिंधिया पंडित भातखण्डे से मिलकर इतने प्रभावित हुये कि उन्होंने अपने दरबार के सात संगीतज्ञों को पंडित भातखण्डे की नवीन पद्धति की शिक्षा प्राप्त करने बम्बई भेज दिया। इन संगीतज्ञों ने पंडित भातखण्डे से लगभग तीन माह प्रशिक्षण प्राप्त किया इसके उपरांत १० जनवरी १९१८ को पंडित भातखण्डे के कर कमलों द्वारा 'माधव संगीत विद्यालय की स्थापना कम्पू कोठी में हुई।[३]

---

१ संगीत कला विहार, गोवा विशेषांक, पृ. ४३

२ गायनाचार्य पं. वि. दि. पलुस्कर, बी. आर देवधर पृ. १०३ से १०५ से उद्धृत

३ भातखण्डे स्मृति ग्रंथ, पृ. २६६

लगभग ६० वर्ष की दीर्घकालिक संगीत सेवा द्वारा इस महाविद्यालय ने देश को अनेक उच्चकोटि के कलाकार दिये जिनमें श्री गोविन्दनारायण नातू, श्री एन. एल. गुणे, श्री रामचंद्र अग्निहोत्री, श्री बालासाहेब पूंछवाले, श्री एन. ए. गोलवलकर, श्री बी. एस. राजूरकर, श्री नारायणराव पाठक, श्री वी. के. जोशी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें उच्चकोटि के शिक्षक एवं संगीत मर्मज्ञ भी हैं।

सन् १९५६ में यह विद्यालय इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ (मध्यप्रदेश) से सम्बद्ध कर दिया गया था।[1] बीच में इसे सन् १९६४ में जिवाजी विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कर दिया गया।[2] सन् १९६३ में पुनः इसे इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ के अंतर्गत ले लिया गया।[3]

४ मैरिस म्यूज़िक कॉलेज लखनऊ —

स्थापना — संगीत के ज्वलन्त प्रश्नों का हल ढूंढने के लिये पंडित भातखण्डे जी ने ऐतिहासिक अखिल भारतीय संगीत परिषदों का आयोजन पाँच बार किया। सन् १९१६ में बड़ौदा की प्रथम अखिल भारतीय संगीत परिषद के उपरांत दूसरी परिषद दिल्ली में सन् १९१८ में आयोजित हुई।[4] इस परिषद के अध्यक्ष हिज़ हाइनेस नवाब साहब रामपुर थे। नवाब रामपुर, हम्मन साहब, ठाकुर नवाब अली एवं भातखण्डे जी इन सब की इच्छा से हिन्दुस्तानी संगीत की एक केन्द्रीय संस्था दिल्ली ही में स्थापित करने का प्रस्ताव इस परिषद में पहली बार रखा गया।

---

१ माधव संगीत विद्यालय की नियमावली के आधार पर

२ वही

३ वही

४ भातखंडे स्मृति ग्रंथ - पृ. ४०-४२

पर इसके पश्चात् कुछ अनिवार्य अड़चनों के कारण ये विचार सफल नहीं हो पाये।[1]

दरियाबाद जिला बाराबंकी (उत्तर प्रदेश) के राय उमानाथ बली तालुकेदार घराने के थे। उनका प्रगाढ़ स्नेह नवाब अली से था। चूंकि नवाबअली और पंडित भातखण्डे जी के भी अच्छे संबंध थे तथा उनके पारस्परिक पत्र-व्यवहार की बात राय उमानाथ बली जी को ज्ञात थी; अतएव राय साहब पंडित भातखण्डे जी से मिलने को आतुर थे। उन्होंने भी लखनऊ में एक विद्यालय प्रारंभ करने की योजना बनाई थी, जिसे बताने के लिये भातखण्डे जी से मिले और पत्र-व्यवहार करने लगे। दिल्ली में संगीत की एक मुख्य केन्द्रीय संस्था खोलने का प्रस्ताव एक बार फिर १९१९ में बनारस में आयोजित किये गये तृतीय अखिल भारतीय संगीत परिषद के सम्मुख रखा गया; परंतु वहाँ भी पारित न हो सका। तब पंडित भातखण्डे जी ने राय उमानाथ बली के प्रस्ताव पर सन् १९२४ में क्रमशः चतुर्थ और पंचम अखिल भारतीय परिषद का आयोजन लखनऊ में किया। उसमें व्यक्त किये विचारों और प्रस्ताव के आधार पर प्रदेश के तत्कालीन मंत्री श्री राय राजेश्वर बली के सहयोग से ८ जुलाई १९२६ को तोपवाली कोठी कैसरबाग में संगीत की कक्षायें प्रारंभ हुईं।

१६ सितंबर १९२६ को प्रदेश के तत्कालीन गवर्नर सर विलियम मैरिस के नाम पर उनके संदेश और शुभ कामनाओं के साथ मैरिस म्यूज़िक कॉलेज का उद्घाटन विधिवत् सम्पन्न हुआ।[2]

पंडित विष्णु नारायण भातखण्डे की प्रेरणा और मार्गदर्शन तथा प्रबंधक राय उमानाथ बली की स्वयं की सांगीतिकरुचि ने इनके विकास में विशेष योगदान दिया। सन्

---

1 भातखण्डे स्मृति ग्रंथ, पृ. ४०-४२

2 भातखण्डे स्मृति ग्रंथ, पृ. ४३-४४

१९६० में भातखण्डे जन्म शती के अवसर पर उन्हीं की पुण्य स्मृति में संस्था का नाम भातखण्डे संगीत महाविद्यालय के रूप में परिवर्तित हुआ। सन् १९६६ से महाविद्यालय राजकीय संस्था की हैसियत से राज्य प्रशासन के नियंत्रण में सांस्कृतिक कार्य विभाग द्वारा संचालित है।[1]

अब इस विद्यापीठ के अंतर्गत आसाम, बंगाल, दिल्ली, उत्तर-प्रदेश, महाराष्ट्र, श्रीलंका, मणीपुर, आदि राज्यों के अलावा विदेश में भी कुल ८३ से अधिक संबद्ध संस्थायें संगीत शिक्षा प्रदान करने का कार्य कर रही हैं।[2]

५ प्रयाग संगीत समीति इलाहाबाद —

स्थापना — संगीत के संस्थागत शिक्षण का प्रचार एवं प्रसार करने में जिन संस्थाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा देश को प्रभावित किया है, उनमें, 'प्रयाग संगीत समीति इलाहाबाद का नाम विशेष उल्लेखनीय है। स्वर्गीय पंडित विष्णू दिगम्बर जी के वरिष्ठ शिष्य बी. ए. कशालकर जी ने 'नारदीय मिशन' से प्रेरणा लेकर इलाहाबाद में, 'प्रयाग संगीत समीति' की स्थापना की।[2] जिसने न केवल इलाहाबाद में संगीत शिक्षण की व्यवस्था की बल्कि देश में प्रारंभ हुई अनेक छोटी-बड़ी संगीत संस्थाओं को अपने साथ संबद्ध कर उनके संगीत पाठ्यक्रम निर्धारित किये तथा संगीत परिक्षायें संचालित कीं।

वर्तमान में इस समीति द्वारा मान्यता प्राप्त अनेक केन्द्र देश के सभी प्रांतों में खुल गये हैं। इस

---

1 भातखण्डे संगीत महाविद्यालय, लखनऊ, स्वर्ण जयन्ती समारोह स्मारिका, १९६६, पृ. १६-१६

2 श्री नारायणराव पटवर्धनजी के साथ भेंटवार्ता, १०.११.८८

संस्था में गायन, वादन, नृत्य के आठ वर्ष के पाठ्यक्रम निर्धारित हैं। यहाँ शास्त्रीय गायन के अतिरिक्त भाव संगीत शिक्षण की भी व्यवस्था है।[1]

६ प्राचीन कलाकेन्द्र चंडीगढ़ —

अखिल भारतीय गांधर्व महाविद्यालय मंडल मिरज, भातखण्डे संगीत विद्यापीठ लखनऊ, प्रयाग संगीत समीति इलाहाबाद के संगीत संबंधी प्रचार-प्रसार के कार्यों से प्रेरणा लेकर सन १९५६ में श्री एल. एम. कौसर और उनके सहयोगियों ने मिलकर हरियाणा, पंजाब, हिमांचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर के क्षेत्र में चल रही संगीत संस्थाओं को सूत्रबद्ध करने तथा उन सभी में एक सुनिश्चित शिक्षण एवं परीक्षा प्रणाली को प्रारंभ करने के उद्देश्य से चण्डीगढ़ में, 'प्राचीन कलाकेन्द्र' नामक संस्था की स्थापना की।

कुछ प्रान्तीय सरकारों और विश्वविद्यालयों ने, 'प्राचीन कला केन्द्र' चण्डीगढ़ को मान्यता भी प्रदान की है। 'प्राचीन कला केन्द्र' 'सेन्टर आफ एडवांस्ड ट्रेनिंग इन म्यूज़िक एण्ड डान्स' नामक एक और संस्था भी चण्डीगढ़ में चला रहा है। यह संस्था संगीत शिक्षा प्रदान करने के साथ-साथ उत्तर पश्चिमी क्षेत्रों के लोक संगीत एवं नृत्य का अध्ययन एवं शोध का महत्वपूर्ण कार्य भी कर रही है।

इस संस्था ने अब तक देश में कई प्रान्तों में अपने संबद्ध संगीत महाविद्यालय तथा परिक्षायें आयोजित करने वाले रैकग्नाइज्ड सैन्टर भी स्थापित किये हैं जिनसे बड़ी संख्या में परीक्षार्थी उत्तीर्ण हो रहे हैं।[2]

---

[1] प्राचीन कला केन्द्र चण्डीगढ़ के वर्ष १९८९-९० के पाठ्यक्रम एवं नियमावली पर आधारित

विश्वविद्यालयों में संगीत संकायों (फेकल्टी) एवं विभागों की स्थापना —

इन संस्थाओं से प्रेरणा लेकर देश के विभिन्न अंचलों में नई-नई संस्थायें जन्म लेने लगीं तथा वे अपना संबद्धीकरण, परीक्षायें संचालित करने वाली किसी न किसी प्रमुख संस्था से करने लगीं। संगीत के संस्थागत शिक्षण के सूत्रपात के समय से लगभग ५० वर्ष के भीतर देश के कोने-कोने में एक न एक संगीत संस्था चल निकली।

संगीत का संस्थागत शिक्षण प्रारंभ होने के समय से, शिक्षाविदों और प्रशासकों का एक वर्ग संगीत को सामान्य शिक्षा के पाठ्यक्रम में एक विषय की भाँति सम्मिलित किये जाने के विरोध में था। ज्ञान-विज्ञान के विश्वविद्यालयों में संगीत शिक्षण का औचित्य उनकी समझ में नहीं आ पाता था। परंतु पंडित भातखण्डे एवं पलुस्कर जी तथा उनके शिष्य वर्ग के दृढ़ निश्चय त्याग और ठोस कार्य के परिणामस्वरूप विरोधी स्वर को शांत होना पड़ा तथा धीरे-धीरे सामान्य शिक्षा के पाठ्यक्रमों में प्राथमिक, माध्यमिक, विद्यालयीन, और विश्वविद्यालय स्तर पर भी संगीत को शिक्षण के एक विषय के रूप में स्वीकार किया जाने लगा।

"उच्चतर माध्यमिक शिक्षा आयोग ने अपने प्रतिवेदन में पाठ्यक्रम में संगीत व अन्य ललित कलाओं को सर्वाधिक महत्ता प्रदान की थी।"[1] आयोग की सिफारिशों को अमल में लाते हुये, देश के सभी प्रान्तों में धीरे-धीरे हाई स्कूल, इन्टरमीडियेट, माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक पाठ्यक्रमों में संगीत को एक विषय के रूप में सम्मिलित करना प्रारंभ किया

---

1 रिपोर्ट ऑफ एजूकेशन कमीशन, अक्टूबर ५२, जून ५३, गवर्मेंट ऑफ इन्डिया, मिनिस्ट्री ऑफ एजूकेशन, पृ. ८३, पृ.४५

१ बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी के अंतर्गत संगीत एवं ललित कला संकाय की स्थापना —

सन् १९०६ में डॉक्टर एनी बेसेन्ट द्वारा थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना बनारस में की गयी जिसमें शिक्षण का एक विषय संगीत भी था। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक पंडित मदनमोहन मालवीय जी भी शिक्षा के एक विषय के रूप में संगीत को अपने विश्वविद्यालय में प्रारंभ कराना चाहते थे; इस संबंध में उन्होंने पंडित भातखण्डे और पलुस्कर जी की संगीत सेवाओं के विषय में सुन रखा था। अतः मालवीयजी ने भातखण्डे जी से पत्र व्यवहार कर उनका मार्गदर्शन प्राप्त किया तथा, "बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के संगीत शिक्षा-विभाग में पंडित भातखण्डे के ही बताये हुये मार्ग पर उन्हीं के बनाये हुये पाठ्यक्रम के अनुसार संगीत-शिक्षा का कार्य प्रारंभ किया गया।"[1]

सन् १९५० में जब इस संस्था की स्थापना हुई, इसका नाम, "श्री कला संगीत भारती" था। पंडित ओंकारनाथ जी को इसका प्रथम प्राचार्य नियुक्त किया गया था।[2] फिर भी इस संस्था के प्रारंभिक पाँच वर्ष संघर्ष करते हुये बीते; किन्तु सन् १९५५-५६ से तत्कालीन उपकुलपति महोदय डॉ. सर सी. पी. रामास्वामी अइय्यर की प्रेरणा से इनके पुनर्गठन की जो योजना बनी, इसके कार्यान्वित होने पर इसका वर्तमान रूप निखरा।[3]

सन् १९५६ तक यहाँ गायन तथा वादन के प्रमुख विषयों में डिप्लोमा तथा बी. म्यूज. तक के पाठ्यक्रम

---

१ भातखण्डे स्मृति ग्रंथ पृ. ४६ तथा पृ. ३५२

२ नाद-रूप - प्रथम अंक संपादकीय - श्री कला संगीत भारती, पृ. १, बी.एच.यू.

३ डा. सी. पी. रामास्वामी अय्यर के विचार पृ. ३४५

चलाये गये। सन् १९५६ से एम. म्यूज. तथा सन् १९६१ से डी. म्यूज. (डॉक्टर ऑफ म्यूज़िक) के पाठ्यक्रम आरंभ हुये।[1] इस संगीत महाविद्यालय में शोध विभाग प्रारंभ से ही था। इस शोध विभाग में रीडर के पद पर सर्वप्रथम १९५६ में कु. प्रेमलता शर्मा की नियुक्ति की गयी।[2] प्रारंभ में यह पद गायन एवं वाद्य विभागों के अंतर्गत था। परंतु वर्ष १९६६ में संगीत शास्त्र विभाग का पृथक रूप में निर्माण हुआ, जिसके अंतर्गत 'मास्टर ऑफ म्यूज़िकोलॉजी' एवं 'पी. एच. डी.' के पाठ्यक्रम तथा दो वर्ष का 'म्यूज़िक एप्रीसियेशन' कोर्स प्रारंभ किये गये।[3] सन् १९७१ में इस विभाग में प्रोफेसर का एक पद प्रदान किया गया जिस पर डा. प्रेमलता शर्मा पदोन्नत की गयीं।[4] वे इस संकाय की १९८५ तक अधिष्ठाता रहीं। इसके अतिरिक्त प्रोफेसर बी. आर. देवधर, डा. गौतम, डा. लालमणी मिश्र तथा वर्तमान में श्रीमती एन. राजम् के द्वारा इस संगीत संस्था को अपनी सेवा अर्पित की जा रही है।[5]

यहाँ संस्थागत शिक्षण हेतु भी विद्यार्थियों में गुणवत्ता बनाये रखने के लिये प्रवेश के समय ही प्रतिभा परीक्षण (Aptitude test) के द्वारा अवांछनीय तथ्यों को रोक दिया जाता है तथा कक्षा में अधिकाधिक विद्यार्थियों की संख्या की अपेक्षा ही नहीं की जाती। जो भी प्रतिभा सम्पन्न विद्यार्थी प्रवेश पाते हैं, उन्हें गहन अध्ययन एवं अभ्यास कराया जाता है। ताकि वे एक होनहार कलाकार संगीतशास्त्री अथवा आदर्श शिक्षक बन सकें। इस प्रकार यहाँ प्रारंभ से ही संस्थागत शिक्षण

---

१ बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय संगीत संकाय प्रासपेक्टस पर आधारित
२ वही "
३ "
४ वही
५ वही

व्यवस्था में गुरु-शिष्य शिक्षा प्रणाली के उपयोगी तत्वों का समावेश किया गया है। इस संस्था के पुरुष छात्रों के लिये पृथक छात्रावास तथा महिलाओं के लिये पृथक छात्रावास में रहने एवं अभ्यास करने की पूरी व्यवस्था है। विदेशी छात्रों को, 'इन्टरनेशनल हाउस' में रखा जाता है।[1]

२ इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़—

संगीत विश्वविद्यालय का स्वप्न सर्वप्रथम पंडित भातखण्डे ने देखा था तथा उसका उल्लेख उन्होंने माधव संगीत महाविद्यालय ग्वालियर की सन् १९२५ की परीक्षा तथा निरीक्षणों के वृतान्त में किया था। "निकट भविष्य में संगीत की यूनीवर्सिटी खोली जाय"[2] भातखण्डे ही नहीं वे, सभी शिक्षाशास्त्री जो व्यक्तित्व के विकास में उदार शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हैं, बौद्धिक विकास के साथ-साथ भावनात्मक विकास हेतु, संगीत एवं अन्य ललित कलाओं के शिक्षण की व्यवस्था किये जाने के पक्षधर रहे हैं।

इसी प्रकार के उदात्त विचारों से प्रेरित होकर ही खैरागढ़ (जिला राजनांदगाँव) के राजा वीरेन्द्र बहादुर सिंह एवं रानी पद्मावती देवी ने मध्यप्रदेश के तत्कालीन मंत्री पंडित रविशंकर शुक्ल से राजप्रसाद खैरागढ़ में विश्वविद्यालय खोलने का आग्रह किया। और पंडित जी के प्रयत्नों के फलस्वरूप १४ अक्टूबर सन् १९५६ में स्वयं श्रीमती इन्दिरा गांधी ने खैरागढ़ आकर इस विश्वविद्यालय का उद्घाटन किया।[3]

इस विश्वविद्यालय में संगीत ललित

---

१ विष्णु देव से प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा प्राप्त, बनारस, २६.८.८९

२ भातखण्डे स्मृति ग्रंथ, पृ. २६

३ इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़, कलेन्डर १९६४, पृ.२

कलाओं एवं सहायक मानविकीय विषयों के साथ शिक्षण द्वारा विद्यार्थियों में व्यापक दृष्टि एवं उनके बहुमुखी विकास की चेष्टा की जाती है। वे सभी ललित कलाओं से परिचित होते हैं तथा इसके अंतरावलंबन का ज्ञान भी उनमें उत्पन्न होता है। इन कलाओं के प्रायोगिक एवं शास्त्रीय पक्षों का अधिकाधिक विकास हो सके, शोध के लिये सभी प्रकार की सुविधायें उपलब्ध हों, एवं संभावनायें निर्माण करने का प्रयत्न यहाँ किया जा रहा है।

यह विश्वविद्यालय मध्यप्रदेश के अंतर्गत शासकीय अनुदान प्राप्त करने वाले सभी संगीत विद्यालयों महाविद्यालयों को अपने साथ सम्बद्ध करने हेतु एक्ट द्वारा अधिकृत था। अतः वर्ष १९६१ तक इससे मध्यप्रदेश तथा उसके बाहर की संस्थायें संबद्ध होकर अब इनकी संख्या कुल २९ है। इनके अतिरिक्त इस विश्वविद्यालय ने कुछ संस्थाओं को विश्वविद्यालयों के परीक्षा केन्द्रों की भाँति मान्यता दी है वे कुल ११ हैं।[१]

३ विश्व - भारती शांतिनिकेतन —

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर न केवल एक महान् कवि थे, वरन् एक महान् संगीतज्ञ, शिक्षाशास्त्री, चिन्तक और दार्शनिक भी थे। उनकी यह मान्यता थी कि व्यक्तित्व के विकास में ज्ञान - विज्ञान के साथ संगीत एवं ललित कलाओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। सामान्य शिक्षा के पाठ्यक्रमों में संगीत और ललित कलाओं की भी एक महत्वपूर्ण भूमिका है। सामान्य शिक्षा के पाठ्यक्रमों में संगीत और ललित कलाओं को सम्मिलित करने का अनूठा प्रयोग सन् १९०१ में शांतिनिकेतन आश्रम से प्रारंभ हुआ।[२] दरअसल यह आश्रम सन् १९६३ में महर्षि

---

१ इन्दिरा संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़, कलेन्डर, पृ. ३१३.

२ विश्वभारती, शांतिनिकेतन के वर्ष १९६६-६८ के पाठ्यक्रम व नियमावली पर आधारित

देवेन्द्रनाथ टैगोर द्वारा स्थापित किया गया था, जिसका विस्तार गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के द्वारा किया गया। यह आश्रम १९२१ से विश्वभारती के रूप में विकसित होता रहा तथा भारतीय संसद के सन् १९५१ के एक्ट के द्वारा विशवविद्यालय के रूप में मान्य हुआ।[१]

विश्वभारती में प्रत्येक 'संकाय' को एक 'भवन' की संज्ञा दी गयी है। 'संगीत भवन' के पाठ्यक्रमों में रवीन्द्र संगीत की शिक्षा हेतु 'रवीन्द्र संगीत विभाग' तथा हिन्दुस्तानी संगीत की शिक्षा हेतु पृथक विभाग रखा गया है। कर्नाटक संगीत के विषय भी प्रारंभ किये गये हैं। यद्यपि अनेक वर्षों तक यहां संगीत के केवल बी. म्यूज. डिग्री तक के पाठ्यक्रम ही प्रचलित थे। परंतु वर्ष १९६८ से स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों की भी व्यवस्था की गयी है। इसके उपरांत शोधकार्य हेतु पी. एच. डी. की भी व्यवस्था है।

४ रवीन्द्रभारती विश्वविद्यालय, कलकत्ता

गुरुदेव के पैतृक गृह 'जोड़ासांको' कलकत्ता में ८ मई १९६२ को, 'रवीन्द्रभारती विश्वविद्यालय' की स्थापना डा. विधानचंद्र राय तत्कालीन मुख्यमंत्री ने की।[३] पश्चिम बंगाल की सरकार ने सन् १९५६ में नृत्य, नाट्य एवं संगीत की स्थापना जोड़ासांको में की थी।[४] फिर इस अकादमी को ही रवीन्द्रभारती विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। अकादमी से विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तन का यह कार्य गुरुदेव की १०१ वीं जन्मशती के अवसर पर सम्पन्न हुआ।[५] यह रवीन्द्रभारती विश्वविद्यालय पश्चिम की

---

१ विश्व भारती शांति निकेतन के वर्ष १९६६-६८ के पाठ्यक्रम पर आधारित
२ वही
३ रवीन्द्रभारती यूनीवर्सिटी प्रासपेक्टस, वर्ष ६६-६८, पृ.१
४ वही
५ वही, पृ. ६६

सभी संगीत एवं ललित कला संस्थाओं को अपने साथ संबद्ध करने हेतु अधिकृत है। इसका स्वयं का शिक्षा विभाग, एमरेल्ड बावर कैम्पस, बी. टी. रोड कलकत्ता में स्थित है।[1]

यहाँ आर्टस एवं फाइन आर्टस हेतु दूसरे संकाय (फैकल्टी) हैं। तथा विजुअल आर्टस हेतु पृथक संकाय है। यहाँ संगीत एक आनर्स विषय के रूप में है। रवीन्द्र-भारती विश्वविद्यालय से संबद्ध महाविद्यालयों की संख्या अब ५५ के करीब है। शोधकार्य पर यहाँ पी. एच. डी. प्रदान करने का प्रावधान है।[2]

५ संगीत एवं ललित कला संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतवर्ष के जिन विश्वविद्यालयों ने संगीत एवं ललित कलाओं के पाठ्यक्रम प्रारंभ कर इनकी गहन शिक्षा की व्यवस्था करने का उल्लेखनीय कार्य किया, उनमें दिल्ली विश्वविद्यालय का वर्णन आवश्यक है। यद्यपि दिल्ली विश्वविद्यालय सन् १९२२ से प्रारंभ हुआ तथापि उसमें संगीत का पठनपाठन १९५९ से संभव हुआ।[3]

दिल्ली विश्वविद्यालय के संगीत संकाय में बी. ए. आनर्स पाठ्यक्रम में संगीत एक 'आनर्स' विषय की भाँति लिया जा सकता है। हिन्दुस्तानी संगीत के साथ ही यहाँ कर्नाटक संगीत की शिक्षा की भी व्यवस्था है। इनमें एम. ए. करने की भी सुविधा है। यहाँ शोधकार्य का प्रारंभिक ज्ञान कराने हेतु 'एम. फिल.' की एक वर्षीय डिग्री का प्रावधान है। एम. फिल. करने के उपरांत ही पी. एच. डी. हेतु पंजीयन होता है।[4]

---

३ संगीत व ललित कला संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय के वर्ष १९६६-६८ के पाठ्यक्रम के अनुसार
४ वही
१ रवीन्द्र भारती यूनीवर्सिटी प्रासपेक्टस वर्ष ६६-६८ पृ. १६-१७
२ वही पृ. १६-१७

जिन अन्य विश्वविद्यालयों के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम 'फैकल्टी आफ आर्टस' के अधीन ही प्रचलित हैं उनके नाम निम्नलिखित हैं।[1] —

१ गुरुनानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर
२ पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़
३ पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला
४ हिमांचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला
५ कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
६ महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक
७ मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ
८ आगरा विश्वविद्यालय, आगरा
९ कानपुर विश्वविद्यालय, कानपुर
१० इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
११ जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर
१२ भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल
१३ इन्दौर विश्वविद्यालय, इन्दौर
१४ विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
१५ नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर
१६ कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़
१७ गुलबर्गा विश्वविद्यालय, कर्नाटक
१८ दयालबाग एज्यूकेशन इंस्टीट्यूट, आगरा
१९ वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली (राजस्थान)
२० अमरावती विश्वविद्यालय, महाराष्ट्र
२१ अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवाँ (म. प्र.)
२२ भागलपुर विश्वविद्यालय, (बिहार)
२३ जोधपुर विश्वविद्यालय, (राजस्थान)
२४ मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा (बिहार)
२५ पटना विश्वविद्यालय, पटना (बिहार)

---

१ इन्डियन यूनीवर्सिटीज़ हैन्डबुक, १९८१-८२, पृ. ४२६

२६ पूना विश्वविद्यालय पूना (महाराष्ट्र)
२७ रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय, कलकत्ता
२८ रोहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली[1]

उपर्युक्त विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त देश के अन्य कुछ विश्वविद्यालयों में संगीत केवल बी. ए. पाठ्यक्रम के ऐच्छिक विषय की भाँति ही उपलब्ध है। ये विश्वविद्यालय निम्नांकित हैं[2]—

1 अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़
२ काशी विद्यापीठ, वाराणसी
३ उत्तर बंगाल विश्वविद्यालय, दार्जिलिंग
४ कल्याणी विश्वविद्यालय, कल्याणी
५ नार्थ इस्टर्न हिल यूनीवर्सिटी, शीलांग
६ बरहमपुर विश्वविद्यालय, बरहमपुर (उड़ीसा)
७ भावनगर विश्वविद्यालय, गुजरात
८ गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
९ सरदार पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभविद्यानगर (गुजरात)
१० साऊथ गुजरात विश्वविद्यालय, सूरत
११ शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर
१२ अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद
१३ बिहार विश्वविद्यालय, फैजाबाद
१४ बुंदेलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी (उ. प्र.)
१५ कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता
१६ हरिसिंह गौड़ विश्वविद्यालय, सागर (म. प्र.)
१७ गढ़वाल विश्वविद्यालय, गढ़वाल (उ. प्र.)
१८ गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ. प्र.)
१९ गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (म. प्र.)
२० गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उ. प्र.)

---

1 इन्डियन यूनीवर्सिटीज़ हैन्डबुक, १९८१-८२, पृ. ४२६
२ वही, पृ. ५१५

२१ जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू
२२ जिवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म. प्र.)
२३ कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर
२४ कुमायूँ विश्वविद्यालय नैनीताल (उ. प्र.)
२५ मगध विश्वविद्यालय, गया (बिहार)
२६ दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)
२6 मणिपुर विश्वविद्यालय, इम्फाल (मणिपुर)
२८ रांची विश्वविद्यालय, रांची (बिहार)
२९ रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर (म. प्र.)[1]

जामिया मिलिया इस्लामिया, दिल्ली में अभी तक संगीत को पाठ्यक्रम में सम्मिलित नहीं किया गया है। संबलपुर विश्वविद्यालय में इन्टरमीडियेट पाठ्यक्रम में ही संगीत को ऐच्छिक विषय की भाँति रखा गया है। गुजरात विश्वविद्यालय अहमदाबाद में संगीत हेतु केवल एक तृतीय वर्षीय डिप्लोमा है।[2]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि अभी सभी पारंपरिक विश्वविद्यालयों ने संगीत को भलिभाँति नहीं अपनाया है। इनमें स्नातक के साथ स्नातकोत्तर शिक्षण के प्रारंभ किये जाने की आवश्यकता अभी भी बनी हुई है। इसके साथ ही आज इस बात पर ध्यान देने और उसके लिये प्रयास करने की आवश्यकता उससे भी अधिक है; वह है संगीत का गिरता स्तर? हमारे सामने यह एक प्रश्नचिन्ह है कि इतने प्रचार-प्रसार और शिक्षण की सुविधायें उपलब्ध होने के बाद भी स्थिति दिनप्रतिदिन क्यों दयनीय होती जा रही है। आज अब और अधिक शिक्षण संस्थायें स्थापित करने और संगीत शिक्षण को फैलाने की अपेक्षा इसकी चल रही शिक्षण संस्थाओं की

---

१ इन्डियन यूनीवर्सिटीज़ हैन्डबुक, १९८१-८२, पृ. ५१५
२ वही, पृ. ९४८

शिक्षा व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन करने की आवश्यकता है। जिससे इस कला का गुणात्मक सुधार भी संभव हो सके।

इस प्रकार भारतीय शास्त्रीय संगीत के प्राचीन इतिहास पर द्वितीय अध्याय में किये गये दृष्टिक्षेपण के पश्चात् तथा वर्तमान में कब और कैसे प्रचलित संगीत-शिक्षा-व्यवस्था का प्रारंभ हुआ इसका विवेचन करने के बाद हम पाते हैं कि बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही संगीत के विकास, प्रचार-प्रसार, संगीत शिक्षा के नये उपक्रम, संगीत शिक्षा की सर्वसुलभता, पाठ्य पुस्तकों की रचना, विधिवत् पाठ्यक्रम निर्माण, संगीत संबधी लक्ष्य एवं लक्षणग्रंथों का प्रणयन, परीक्षा-विधि आदि कई दृष्टियों से क्रांतिकारी परिवर्तन लेकर उपस्थित हुआ। इसके पूर्व संगीत-शिक्षा घरानेदार गायक-वादकों एवं समाज के विशिष्ट वर्ग राजा-महाराजाओं के राजदरबारों तथा अंत:पुर में ही कैद होकर रह गयी थी। सर्वसाधारण के लिये यह दुर्लभ हो चुकी थी। बीसवीं सदी में ही संगीत शिक्षा का लोकतंत्रीकरण किया गया। यह सर्वविदित है कि इस महान् और पुनीत कार्य को करने का श्रेय संगीत के दो मनीषियों आचार्य विष्णुदिगम्बर पलुस्कर और आचार्य विष्णुनारायण भातखण्डे को है। दोनों ने संगीत कला के उद्धार के लिये वृहद् संगीत-शिक्षा को आवश्यक माना और अपने संकल्पों को पूर्ण करने के लिये संगीत महाविद्यालयों की स्थापना के साथ एक संपूर्ण शिक्षा व्यवस्था का निर्माण किया।

जिसके फलस्वरूप आधुनिक समय में संगीत-शिक्षा तथा कला का व्यापक प्रचार प्रसार हुआ। भारतीय विश्वविद्यालयों में 'स्नातक' उपाधि के लिये विषयों की लम्बी सूची में संगीत भी वैकल्पिक विषय के रूप में समाविष्ट है तथा कहीं-कहीं स्नातकोत्तर

एवं पी. एच. डी. उपाधि के लिये भी समान्य विषय है। इसके अतिरिक्त अनेक संगीत विद्यापीठों, जैसे प्रयाग संगीत समीति, अखिल भारतीय गांधर्व महाविद्यालय मंडल, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ आदि के द्वारा संगीत के विशेष अध्ययन के लिये डिप्लोमा, स्नातक, स्नातकोत्तर, पी. एच. डी., डी. म्यूज, स्तर के विभिन्न पाठ्यक्रमों का निर्माण किया गया है। आज देश में एम. ए., डी. म्यूज, एम. म्यूज, पी. एच. डी. प्राप्त युवक युवतियों की कमी नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि संगीत कला के प्रति लोकरुचि संवर्धित हुयी है और इस कला की शिक्षा तथा व्यवसाय के प्रति भी आकर्षण बढ़ा है। परंतु जिस गति से संगीत कला एवं शिक्षा का संख्यात्मक विकास हुआ, क्या उस गति से उसके विद्यार्थियों का गुणात्मक विकास हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर हम यही पाते हैं कि वर्तमान संगीत शिक्षण पद्धति गुणात्मक विकास की अपेक्षा संख्यात्मक विकास की ओर अधिक आग्रहशील है। चार-पाँच साल की अवधी में सीखने वाले से चालीस-पचास राग रागिनियों की जानकारी और फिर निष्णात होने की अपेक्षा की जाती है जो कि असंभव है। इस संबंध में कुछ अनुभवी वृद्ध कलाकारों के वक्तव्य एवं संस्मरण उल्लेखनीय हैं —

जकीरुद्दिन खाँ और अलाबंदे खाँ —

डागर वाणी के घराने में अब से कुछ वर्ष पूर्व प्रसिद्ध गायक जकीरुद्दीन खाँ और अलाबंदे खाँ ने अपनी गायकी से संपूर्ण भारत में धूम मचा दी थी। स्वयं भातखण्डेजी ने स्वीकार किया था कि विभिन्न रागों में लगने वाली श्रुतियों का सही प्रदर्शन दोनों भाई ही कर सकते थे। जयपुर नरेश रामसिंह के दरबारी गायक तथा प्रकाण्ड संगीत विद्वान बहराम खाँ

से दोनों भाइयों ने संगीत शिक्षा ग्रहण की। उनके यहाँ के वयोवृद्ध कलाकारों का कथन है कि बहराम खाँ दोनों भाइयों को प्रतिदिन रात्रि के 10-11 बजे से नियमित रूप से शिक्षा ग्रहण करने बिठाते थे और प्रातःकाल तक निरन्तर रियाज़ करवाते थे। यदि इस बीच में दोनों में से किसी को ज़रा भी निद्रा आने लगती तो वे आग और तम्बाकू से भरा हुक्का उसके ऊपर ऊँडेल दिया करते थे। आलाप की उच्च शिक्षा के लिये खाँ साहब ने इन्हें तत्काल सेनी घराने के प्रसिद्ध संगीतज्ञ आलमसेन का भी शिष्य बनाया था। इस प्रकार कठोर साधना और सही मार्गदर्शन के परिणामस्वरूप ही दोनों भाईयों ने समस्त भारतवर्ष में ख्याति अर्जित की।[1]

उस्ताद नज़ीर खाँ —

"मेरे उस्ताद ने मेरी तालीम के शुरू के ६ महीनों में शुद्ध स्वर सप्तक के अलावा कुछ भी गाने नहीं दिया। पहले-पहले तो मैं बहुत दुखी और निराश रहने लगा मगर ६: महीने बाद मेरा गला सात सुरों पर ऐसा दौड़ने लगा कि उसमें कोई अटकाव ही न रहा। मेरे सुर ऐसे चलने लगे जैसे पानी का रेला। फिर मेरे उस्ताद ने मेरे साथ-साथ, 'सारेगमपधनीसां। सांनिधपमगरेसा' द्रुत लय में गाना आरंभ किया। उनके साथ गाने से मेरे गले में तरह-तरह के कण और विभिन्न हरकतें पैदा होने लगीं। फिर उन्होंने मुझे जगह-जगह रोकना शुरू किया, कभी धैवत कभी निषाद पर ठहराते और फिर वहीं से लौटाते मतलब यह कि इस तरकीब से उन्होंने एक संपूर्ण तान से हजारों तानें निकलवायीं। यह मैं नहीं जानता था कि राग क्या चीज़ है, मगर गला किसी

---

1 संगीत कला विहार १९६९, मार्च, पृ. १५

भी जगह रुकता नहीं था। उस्ताद सिर्फ हाथ से लय का इशारा करते और मैं उनके इशारे पर गला फेंकता था। ऐसी मेहनत से गवैया बनते हैं। पुराने उस्ताद अपने शागिर्दों से एक-एक, दो-दो बरस तक सिर्फ सुर भरवाते थे।" तभी उनके गले ऐसे हो जाते थे जैसे रेशम की डोर। तैयार गले में आप चाहे जो रंग डाल दीजिये।[1]

अंजनीबाई मालपेकर — "नज़ीर खाँ के पास अंजनीबाई मालपेकर की तालीम सुबह चार बजे से प्रारंभ होकर ९-१० बजे तक चलती थी। लगातार १० वर्षों तक इसी प्रकार तालीम चालू रही। पहले ३½ वर्षों में केवल यमन फिर १½ वर्ष तक भैरवी सिर्फ ये ही दो राग शुरू के छः वर्षों में तैयार किये गये। इस शिक्षा के संबंध में अंजनीबाई कहती हैं," मेरे गुरु बोलते थे कि यमन यह सब तीव्र स्वरों का राग है और भैरवी सब कोमल स्वरों का राग है इन दोनों रागों के संगोपांग अभ्यास से सप्तक के सभी स्वर गले में उत्तम रीति से चढ़ जाते हैं। फिर कोई राग गाना कठिन नहीं होता।"[2]

हीराबाई बड़ौदेकर — वहीद खाँ पढ़ाई में मेहनत का विशेष आग्रह रखते थे। चीज़ के स्थाई अंतरे को ठीक तौर से लयबद्ध कर पाने के लिये १५-२० दिनों की तालीम दिया करते थे। राग की प्रत्येक चीज़ की शिक्षा के लिये ४०-४० दिन। फिर दो तीन महीने उसका

---

१ संगीत १९६०, फरवरी, पृ. ४१, 'उस्ताद नज़ीर खाँ'

२ संगीत कला विहार, सितम्बर १९६४, पृ. ३३९

अभ्यास तब कहीं जाकर उसे गले में फिट कर दिया जाता था। इतने भगीरथ प्रयासों के बाद उस्तादजी समझते थे कि छात्र को उस राग की कुछ जानकारी हो गयी है, कुछ समझ आ गयी है। तदुपरांत मंद्र सप्तक में विचार करने की शिक्षा शुरू होती। वहीं इस सप्तक में कम से कम छः सात तरीके हासिल करने का आग्रह रखते थे। उसके बाद यथाक्रम मध्य-सप्तक और फिर आरवीर में विस्तार करने का पाठ दिया करते थे। एक-एक तान के अभ्यास को एक घंटा समय देते थे।"[1]

केसरबाई केलकर — "खाँ साहब ने सबसे पहले मुझे तोड़ी सिखाना प्रारंभ किया था। इसी राग को सिखाने में उन्होंने मुझसे सब प्रकार से मेहनत करवा ली थी। एक सादा आरोह-अवरोह का सरल पलटा वे कहते और मैं उसे रटना शुरू कर देती; उसमें कोई त्रुटि होती तो वे उसे दुरुस्त करते थे। इस प्रकार एक ही पलटा मैं घंटों गाती रहती थी और खाँ साहब सामने बैठे सुना करते थे। एक ही पलटा करीब १०-१५ दिन चलता रहता और उसकी रटाई कोई लाखों बार होती होगी।"[2]

बाबा आलाउद्दीन खाँ मैहर — स्वयं बाबा शिष्यों के रियाज़ व शिक्षा के संबंध में अत्यधिक कठोर थे। निस्संदेह उनकी कठोरता ने ही उस्ताद अलीअकबर खाँ, पंडित रविशंकर, अन्नपूर्णाजी, निखिल बनर्जी, जोतीन

---

1 संगीत कला विहार, १९७० जुलाई, पृ. ३१५

2 वही , १९६६ अक्टूबर, पृ. ४५१

भट्टाचार्य जैसे कलाकारों को जन्म दिया। वैसे उस्ताद अत्यन्त कोमल हृदय थे; पर संगीत के प्रति लापरवाही उन्हें बिलकुल पसंद नहीं थी। एक बार निखिल बनर्जी कुछ अस्वस्थ थे अतः अभ्यास के समय में उन्होंने कुछ छूट चाही, किन्तु बाबा ने स्पष्ट कह दिया- "अभ्यास के समय में कोई छूट नहीं मिलेगी भले ही मर जाओ।" अभ्यास के प्रति बाबा की इसी उदारता और शिष्यों के प्रति अनुदारता ने एक बार स्वयं बाबा के पुत्र अलीअकबर खाँ को घर से भागने पर विवश कर दिया।"१

आज हमारी शिक्षा पद्धति विशेष कर संगीत शिक्षा में इस प्रकार से कुशलता पर बल देने का कोई प्रावधान ही नहीं है। यही कारण है कि आज एम. ए. अथवा संगीत में उच्च शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी को अपना वाद्य मिलाना तक नहीं आता न ही इनके पास डिग्री के स्तर का क्रियात्मक अथवा सैद्धांतिक ज्ञान ही होता है; और ये ही उपाधिधारी युवक-युवतियाँ विद्यालयों, महाविद्यालयों में शिक्षा देने का कार्य करने लगते हैं। यदि आज स्वयं आचार्य पलुस्कर अथवा श्री भातखण्डे जीवित होते तो इन विद्यालयों महाविद्यालयों तथा संगीत संस्थानों में कार्यरत अध्यापकों, अध्ययनरत विद्यार्थियों तथा समूची शिक्षण व्यवस्था व उसकी अनीयमितताओं को देखकर अत्यन्त दुखी होते।

संगीत शिक्षा का गिरता स्तर और उपाधि प्राप्त करने की तीव्र इच्छा, इन दो पाटों के मध्य आज संगीत महाविद्यालयों का संचालन हो रहा है और रेवड़ी की भाँति उपाधियाँ बँट रही हैं। इसमें संदेह नहीं कि विष्णुद्वयों के समय संगीत-शिक्षा

---

१ संगीत, १९८४ जनवरी, पृ. २९, 'संगीत और अभ्यास'

संबंधी परिस्थितियों में और वर्तमान परिस्थितियों में पर्याप्त अंतर है। तब संगीत-शिक्षा के लिये वातावरण का निर्माण करना पड़ा था और आज इसके लिये वातावरण बन चुका है, परिस्थितियाँ अनुकूल हैं। परंतु विद्वानों के बाद संगीत-शिक्षा-पद्धति की आवश्यकताओं पर विचार, विनिमय, समयानुकूल परिवर्तन, परिवर्द्धन तथा संशोधन की आवश्यकता ही नहीं समझी गयी। जैसा चल रहा है चलने दो अपनी जीविका चल रही है चलने दो बाकी क्या लेना-देना है। यही कारण है कि आज संगीत कला का इतना प्रसार होते हुये, संगीत-शिक्षा की इतनी सुविधायें होने पर गुणवत्ता की दृष्टि से वर्तमान संगीत-कला और शिक्षा-व्यवस्था की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गयी है।

संगीत जगत के प्रसिद्ध चिन्तक, विद्वान संगीतज्ञ एवं कलाकार भी संगीत जगत में फैल रहे संक्रमणों और समस्याओं के लिये चिन्ताग्रस्त हैं। संस्थागत-शिक्षा-पद्धति की समस्याओं के प्रति इन विद्वानों के दृष्टिकोणों का उल्लेख यहाँ आवश्यक है। ये दृष्टिकोण इन समस्याओं की गंभीरता के प्रति हमें सचेष्ट करने के साथ इनके समाधान की दिशा दिखाने में हमारे लिये सहायक हैं। ये वक्तव्य प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा प्राप्त किये गये हैं —

श्रीमती सुमति मुटाटकर —

संस्थागत-शिक्षा-पद्धति का उद्देश्य जनसामान्य में संगीत-कला का प्रचार करना रहा है। अतः यह कहना गलत है कि ये शिक्षा-पद्धति बिलकुल ही अनुपयोगी है। आज जितना संगीत जनसाधारण समझते हैं उतना प्राचीन काल में नहीं समझते थे, इसका श्रेय संस्थागत शिक्षा पद्धती को ही है। हाँ इसमें कुछ दोष भी हैं जिनमें सुधार की आवश्यकता है। उनके अनुसार ये दोष पाठ्यक्रम, शिक्षा-विधि, छात्रों

की संख्या, परीक्षा-पद्धति, स्वर-लीपी के प्रयोग आदि बातों से संबंधित हैं।

महादेव प्रसाद मिश्र –

स्कूली शिक्षा में किसी भी स्तर पर इमानदारी नहीं है। जान-पहचान वालों को नंबर अधिक दे देते हैं योग्य व्यक्ति पीछे रह जाते हैं। पंडित जी का वक्तव्य संस्थागत-शिक्षा-पद्धति में फैले भ्रष्टाचार की ओर संकेत करता है।

श्री छन्नूलाल मिश्र –

संस्थागत संगीत-शिक्षा पद्धति के विषय में पंडितजी की धारणा है कि इस संगीत पद्धति से शिक्षा द्वारा सांगीतिक ज्ञान की वृद्धि अवश्य हो रही है, समझ बढ़ रही है। पर इससे गायकी का सही ज्ञान नहीं हो पा रहा है; पुस्तकीय ज्ञान अवश्य सिखाया जा रहा है। इस गायन वादन में न लोच है न भावनात्मकता न गमकों के प्रयोग द्वारा गायन का माधुर्य ही विकसित किया जा रहा है। यह एक प्रकार का तकनीकी गायन है।

संस्थागत-शिक्षा-पद्धति में पुस्तकीय ज्ञान के साथ गायन वादन में लोच, भावनात्मकता और माधुर्य को विकसित करने के गुर सिखाये जाने भी आवश्यक हैं ऐसा पंडितजी का मानना है।

कुमारी कमल ताई तॉंबे –

संस्थागत-संगीत-शिक्षा केवल लोगों को संगीत का परिचय देती है। कलाकार उत्पन्न करने में यह सफल नहीं हुई है। शास्त्रीय संगीत में गुणात्मक स्तर की वृद्धि के लिये कमल ताई उचित शिक्षा और मेहनत की आवश्यकता पर बल देती हैं।

हफीज़ अहमद खान –

खान साहब के मतानुसार संस्थागत शिक्षा-पद्धति से डिग्री हासिल की जाती है, ज्ञान प्राप्त हो सकता है। प्रदर्शन स्तर का गायन-वादन नहीं आ सकता इसके लिये संस्थागत-शिक्षा-पद्धति के पाठ्यक्रम, राग-संख्या, शिक्षा-विधि आदि बहुत सी बातों में परिवर्तन करने होंगे।

श्री के. जी. गिंडे –

गिंडे जी का मत है कि आज हर क्षेत्र में व्यापारिक दृष्टि रखकर सोचा जाता है। दोष तो दोनों ही पद्धतियों में हैं। पहले जैसे निष्ठावान गुरु और शिष्य आज नहीं हैं अतः दोष तो सर्वप्रथम हममें है यदि हम अपने दोषों को दूर करें तो सभी पद्धतियाँ निर्दोष हो जायेंगी।

नियाज़ अहमद खान –

स्कूल में सैद्धांतिक ज्ञान उन्हें मिलता है पर असल गाना उन्हें नहीं आता। सुर से सुर का क्या रिश्ता है कैसे स्वर लगाना है उन्हें नहीं मालूम। राग में कौन से स्वर पर रुकना है, किस स्वर का प्रयोग कैसे करना है यह उन्हें नहीं मालूम। रागगाना बहुत आवश्यक है आज यह चीज़ समाप्त हो रही है। संस्था में आज तक एक भी कलाकार नहीं बना है वे केवल कानसेन बनाते हैं।

पंडित जसराज –

स्कूली तालीम एक हद तक बहुत जरूरी है इससे विद्यार्थी में एक दृष्टि आती है इस दृष्टि से वह अपने को और अपने गुरु को पहचान सकता है, उसे किसके पास जाना है और क्या सीखना

है। संस्थागत-शिक्षा-पद्धति से उच्चकोटि का कलाकार तो आज तक देखने में नहीं आया है।

श्री बिमलेन्दु मुखर्जी – का मानना है आज से ५० साल पहले भातखंडे जी जिस स्थिति में उसे छोड़कर गये थे वो उस स्तर से भी नीचे आ गयी है। जिन्होंने इस शिक्षा-पद्धति की जिम्मेदारी उठायी यदि वे अपने इस दायित्व की पूर्ति ठीक तरह से करते तो आज इस शिक्षा-पद्धति के परिणाम हमारे सामने कुछ और ही होते।

यशवंत बुआ जोशी – संस्थागत-शिक्षा में विद्यार्थी पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान नहीं दिया जाता। पहले जिसे पेशे के रूप में संगीत अपनाना होता था वही संगीत सीखता था। आज सभी शौक से संगीत सीखते हैं पेशा दूसरा होता है। आज गाने का आनंद ले सकते हैं गा नहीं सकते।

प्रभाकर कारेकर – संस्थागत-शिक्षा-पद्धति द्वारा कलाकारों की निर्मिति नहीं हो सकती। प्रदर्शन के स्तर की कला सीखने के लिये गुरु के पीछे ही रहना होगा।

अजय पोहनकर – बहुत अच्छे विचार नहीं हैं मेरे संस्थागत शिक्षा के विषय में यहाँ सब कुछ सिर्फ डिग्री प्राप्त करने तक सीमित है। इसमें तानसेन तो क्या कानसेन भी पैदा नहीं हो रहे हैं। संस्था में कार्य करने वाले बहुत अच्छे हों तभी कुछ हो सकता

है। शास्त्रीय संगीत में संख्यात्मकता की वृद्धि हो रही है और गुणात्मकता घटती जा रही है।[1]

आज संस्थागत-शिक्षा-पद्धति के विषय में संगीत जगत के बुजुर्ग विद्वान तथा उदीयमान प्रतिनिधियों दोनों की मान्यता है कि संगीत-शिक्षा की इस पद्धति के दोषों के निवारण द्वारा इसकी उपयोगिता को बढ़ाया जा सकता है। प्रसिद्ध चिन्तक और विद्वान श्री वामन हरी देशपांडे भी संगीत जगत में फैल रहे संक्रमण और समस्याओं के लिये चिन्ताग्रस्त हैं। उनके अनुसार संगीत के प्रति आस्था रखने वाले हर व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह इन समस्याओं के समाधान का प्रयत्न करे। उनके अनुसार-"फिर भी अवस्था उतनी अंधकारपूर्ण अथवा अपेक्षा भंग करने वाली नहीं है। बिलकुल आज की घटनाओं को सामने रखकर उचित मार्गदर्शन का लाभ हो तो उन्नति के नये दालान खुल सकते हैं। आज के जमाने में भी हानिकारक सिद्ध होने वाली बातों पर भी, कुछ सुधारात्मक उपायों द्वारा काबू कर लिया जा सकता है।"[2]

करीब-करीब संगीत जगत के अधिकतर सभी विद्वज्जनों की आज यही दृष्टि है। तब सबसे पहले हमें उन समस्याओं उन कारणों को जानना होगा जिनके कारण हम वर्तमान स्थिति को पहुँचे हैं। उसके बाद ही हम सुधारात्मक उपाय अपनाकर संगीत-शिक्षा-व्यवस्था में सुधार करके संगीत कला के स्तर को ऊँचा उठा सकते हैं, उसमें गुणात्मक स्तर की वृद्धि कर सकते हैं।

---

२ संगीत कला विहार, १९६०, सितम्बर, 'हिन्दुस्तानी संगीत की नवधारा, पृ. ३९०

१ प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा प्राप्त, बम्बई, १४.१०.८९

वर्तमान संस्थागत संगीत शिक्षा की समस्यायें —

१ विद्यालयीन संगीत शिक्षा —

सबसे पहली कमजोरी हमारी संस्थागत-संगीत-शिक्षा-व्यवस्था की यह है कि कुछ विद्यालयों को छोड़कर अधिकांश सभी विद्यालयों में संगीत शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है। प्रारंभिक कक्षायें तो इस शिक्षा की व्यवस्था से बिलकुल ही अलग हैं; कहीं-कहीं माध्यमिक कक्षाओं से संगीत शिक्षा आरंभ की जाती है। केन्द्रीय विद्यालयों में माध्यमिक कक्षाओं में संगीत शिक्षा की व्यवस्था है परंतु उसके बाद उसे समाप्त कर दिया गया है। ये जो भी संगीत शिक्षा विद्यालयों में थोड़ी बहुत चल रही है उसका संगीत की आधारगत शिक्षा से कोई संबंध नहीं दिखाई पड़ता है। यहाँ भी थोड़ा बहुत सुगम संगीत सिखा दिया गया है, जिसका उपयोग बाद में वार्षिकोत्सव, १५ अगस्त, २६ जनवरी के जलसों में किया जा सके। अतः यहाँ संगीत शिक्षा की ठोस नींव पड़े इस उद्देश्य से संगीत शिक्षा का संबंध कोसों दूर दिखाई पड़ता है। विद्यालयीन स्तर पर संगीत शिक्षा की गतिविधियाँ शून्य ही हैं। जहाँ संगीत कला की ठोस नींव पड़ सकती थी, संस्कार पड़ सकता था वहीं हमने इसकी कोई आवश्यकता नहीं समझी।

२ महाविद्यालयीन तथा विश्वविद्यालयीन संगीत-शिक्षा —

इसके बाद हम आते हैं महाविद्यालयीन और विश्वविद्यालयीन संगीत-शिक्षा-व्यवस्था की ओर जो कि वर्तमान संगीत शिक्षा की आधारशिला है। यहाँ हम पहले देख चुके हैं कि कुछ महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों को छोड़कर सभी में संगीत विषय पाठ्यक्रम में वैकल्पिक विषय अथवा आनर्स कोर्स के रूप में तथा बाद में उच्च-शिक्षा के विषय के रूप में समाविष्ट है। जिनमें

कुछ महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों में यह व्यवस्था नहीं है; वहाँ भी हम अपेक्षा करते हैं कि इस संगीत शिक्षा की व्यवस्था हो जाय। क्या संगीत शिक्षा की यह व्यवस्था हमारे सम्मुख कोई उपयोगिता रख सकेगी या रखती है? क्योंकि यहाँ प्रवेश के पहले कुछ छात्रों ने यदि गांधर्व महाविद्यालय मंडल या प्रयाग संगीत समीति की एक-दो वर्ष की संगीत परीक्षायें पास कर ली हों या कुछ का यदि भाग्य से उनके स्कूल में इसकी व्यवस्था हो तो, संगीत विषय से प्रारंभिक परिचय हो गया हो तो यह उनकी एक विशेष योग्यता होगी। अन्यथा यों ही बिना प्रवेश परीक्षा के ही उन्हें यहाँ प्रवेश की अनुमति मिल जाती है, यह मेरा व्यक्तिगत अनुभव भी है; चाहे विद्यार्थी में संगीत कला की शिक्षा ग्रहण करने के आवश्यक गुण हों अथवा नहीं। फिर ताल स्वर पक्के किये जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता शुरू हो जाता है पाठ्यक्रम को पूर्ण करने और एक के बाद एक परीक्षायें पास करने का सिलसिला और तीन साल बी. ए. और दो साल एम. ए. पास करने के बाद वही विद्यार्थी संगीत का पूर्ण ज्ञाता समझ लिया जाता है जिसे बी. ए. में प्रवेश के समय संगीत का 'आ ई' भी नहीं आता था। कुछ शास्त्र रट-घोटकर कुछ क्रियात्मक के अंक जोड़कर द्वितीय श्रेणी तो विद्यार्थी की कहीं जाती ही नहीं है। जो थोड़े इस कला के गुण से नैसर्गिक प्रतिभा सम्पन्न होते हैं या पहले से थोड़ा प्रशिक्षण प्राप्त किये रहते हैं उनकी तो प्रथम श्रेणी निश्चित ही होती है। इस तरह भले ही अपना वाद्ययंत्र या तानपूरा मिलाने का ज्ञान न हो पर डिग्री तो मिल ही जाती है। अब इन विद्यार्थियों के लिये सर्वसुलभ कार्य होता है संगीत की शिक्षा प्रदान करना। जो नैसर्गिक प्रतिभा से सम्पन्न हैं वे

विधार्थी थोड़ा बहुत हाथ पैर मारकर कस्बे या शहर के स्तर के कलाकार बन जाते हैं। उच्चकोटि के स्तर तक आने वाले कलाकारों में एन. राजम्, मालिनी राजूरकर, सरलाभिड़े, उल्हास कशालकर जैसे कुछ गिनती के ही कलाकार हैं जो इस शिक्षा-व्यवस्था से जुड़कर भी अपने लिये लगन और परिश्रम के बल पर एक अलग मार्ग बना लेते हैं। परंतु इन्हें संस्थागत-शिक्षा-व्यवस्था से शिक्षा ग्रहण करने के बाद अलग से उचित रीति से योग्य गुरु से शिक्षा ग्रहण करनी ही पड़ती है। अतः इस शिक्षण-व्यवस्था के अंतर्गत चल रही शिक्षा प्रक्रिया से हम वर्तमान स्थिति के सिवा और आशा भी क्या कर सकते हैं। अतः इस व्यवस्था के अंतर्गत कलाकार और विद्वान तो क्या आज एक उच्च स्तर का समझदार विधार्थी भी नहीं तैयार हो रहा है। इसके लिये इस संपूर्ण शिक्षा-व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है।

३ प्रवेश परीक्षा –

संगीत शिक्षा के लिये योग्य विधार्थियों का चुनाव हो सके इसके लिये प्रवेश परीक्षा का कई महाविधालयों तथा शिक्षा संस्थाओं में प्रावधान ही नहीं है। यदि कहीं है तो नाम मात्र के लिये, और उसका भी कड़ाई से पालन नहीं होता। जिससे योग्य व अयोग्य दोनों विधार्थियों को शिक्षक को साथ लेकर चलना होता है। इससे शिक्षा में बाधा उत्पन्न होती है और योग्य विधार्थियों का नुक्सान होता है।

४ पाठ्यक्रम –

आज से ५० साल पहले जो पाठ्यक्रम बनाये गये वही आज भी बिना किसी संशोधन, परिवर्तन के वैसे ही चल रहे हैं। आज परिस्थितियाँ तब से काफी अलग

हो चुकी हैं। तब ये पाठ्यक्रम सामान्य जन को शास्त्रीय संगीत का परिचय हो जाये इस दृष्टि से बनाये गये थे। आज परिचय का क्षेत्र विस्तृत हो गया है, अतः अब आवश्यकता है परिचित व्यक्तियों को एक ठोस दृष्टि प्रदान करने की। आज आवश्यकता है ऐसे पाठ्यक्रम की जो इस कला के साधकों को जीवन की प्रारंभिक आवश्यकताओं की चिंता से मुक्त करके निर्विघ्न इसकी साधना का अवसर प्रदान करें अर्थात संगीत शिक्षा के पाठ्यक्रम को जीविकोपार्जन की समस्या दूर करने के आधार पर व्यावसायिक बनाने की।

हमारे प्रचलित पाठ्यक्रम काफी लम्बे-चौड़े हैं। एक वर्ष में कम से कम १०,१२,१६ रागों से तो कम राग किसी भी पाठ्यक्रम में नहीं मिलेंगे। परंतु हमारे संगीत का जो आधार स्वर-लय-ताल है जो संगीत-कला की बुनियाद है उसकी ठोस शिक्षा के संबंध में किसी पाठ्यक्रम में व्यवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती। यहाँ तक कि प्रारंभिक वर्षों में कराये जाने वाले अलंकार भी ढंग से नहीं कराये जाते। इसके मूल में कारण यही दिखाई पड़ता है कि पहले साल में ही पाठ्यक्रमों में ६ः या आठ राग होते हैं। अतः १५ दिन मुश्किल से अलंकार करने के बाद या कहीं-कहीं ६-७ दिन बाद ही राग सिखाना शुरू कर दिया जाता है। शिक्षक का भी क्या दोष इतने राग फिर सैद्धांतिक पक्ष का अध्ययन, वर्ष में आने वाली अनगिनत छुट्टियों के बीच भी उसे तो पाठ्यक्रम पूरा कराना ही पड़ता है। यदि वह प्रत्येक विद्यार्थी को अलंकार ही घुटवाता रहेगा तब हो चुका कोर्स पूरा। और ये राग संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती ही जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि एम. ए. का विद्यार्थी भी एक भी राग कुशलता से नहीं गा सकता। पाठ्यक्रम में स्वर-ताल की सुदृढ़ता के लिये कोई व्यवस्था न होना व राग संख्या की अधिकता भी इस पाठ्यक्रम का एक

दोष है।

इसके साथ ही संगीत के क्रिया व सैद्धांतिक दोनों पक्षों का समान महत्व संगीत शिक्षा में होना चाहिये पर अधिकांश प्रश्नपत्रों में यदि क्रियात्मक पर ६५ अंक रखे जाते हैं तो सिद्धांत पर केवल ५० इस प्रकार का भेद-भाव स्वयं विद्यार्थियों की दृष्टि में सिद्धांत पक्ष की उपयोगिता को एकदम घटा देता है। इसके बाद जो घरानेदार शिक्षक नियुक्त किये जाते हैं वे इस दिशा में और भी हानिकारक कार्य करते हैं। वे सिद्धांत-पक्ष को एकदम निरर्थक व उद्देश्यहीन बताते हैं जबकि क्रियात्मक संगीत शास्त्र का आधार लेकर ही चलता है। इसके बिना क्रियात्मक ज्ञान पंगु हो जाता है। क्रिया और शास्त्र दोनों एक दूसरे के पूरक हैं अतः पाठ्यक्रम में संगीत शिक्षा के दोनों पक्षों को समान महत्व देना आवश्यक है। सिद्धांत पक्ष को भी क्रिया पक्ष से अधिक महत्व देना अनुचित है क्योंकि संगीत कला एक क्रिया-प्रधान विषय है। अतः इसमें क्रिया स्थान महत्वपूर्ण है।

संगीत-कला क्रिया-प्रधान होने के कारण उसके क्रियात्मक-प्रदर्शन की कुशलता भी संगीत-शिक्षा का ही एक अंग होनी चाहिये। परंतु संगीत के क्रियात्मक प्रदर्शन के संबंध में पाठ्यक्रम में अनिवार्यता की कोई व्यवस्था नहीं है। प्रारंभिक कक्षाओं से ही संगीत-प्रदर्शन वर्ष में दो या तीन बार और माह में एक बार कक्षा में प्रत्येक विद्यार्थी का अनिवार्य होना चाहिये।

संगीत श्रवण भी शास्त्रीय-संगीत-शिक्षा का एक अंग है। इसका भी प्रावधान पाठ्यक्रमों में नहीं पाया जाता है। उच्च कोटि के कलाकारों का गायन-वादन सुनते रहने से विद्यार्थियों में स्वर-ज्ञान व ताल-ज्ञान पक्का होने के साथ-साथ गायकी की तकनीक, बारीकियों, विभिन्न कलाकारों के सौन्दर्य पक्षों को समझने जानने की बुद्धि का निर्माण होता है। साथ ही इससे उनकी स्वयं

की एक दृष्टि भी निर्माण होती है। इतने महत्वपूर्ण विषय की ही हमारे पाठ्यक्रमों में पूर्ण उपेक्षा की गई है।

इसके साथ ही पाठ्यक्रम में सुगम संगीत का समावेश न होना भी इसकी बहुत बड़ी कमी है। हर स्थान पर शास्त्रीय संगीत प्रभावी नहीं होता, गाया भी नहीं जा सकता। अतः एक गायक को भजन, गीत, गजल, लोकगीत सभी का ज्ञान होना आवश्यक है। यह भी शायद बिलकुल निराधार दलील है कि सुगम संगीत की ओर प्रवृत्त विद्यार्थी या गायक शास्त्रीय गायन में निपुण नहीं हो सकेंगे आज प्रभा अत्रे, परवीन सुल्ताना, प्रभाकर कारेकर, कंकणा बनर्जी आदि कई ऐसे सफल शास्त्रीय संगीत के गायक तथा गायिका होने के बाद भी उतनी कुशलता से सुगम संगीत भी गाते हैं। बल्कि शास्त्रीय संगीत की साधना करने वाले व्यक्ति के द्वारा गाया जाने वाला उच्च स्तर का सुगम संगीत अधिक प्रभावी और आकर्षक होता है, क्योंकि उसमें ऐसे गायक के स्वर, लय और ताल की परिमार्जितता अलग ही महसूस होती है। सुगम संगीत के द्वारा ही जन-साधारण को शास्त्रीय संगीत की ओर आकर्षित किया जा सकता है यह मूलभूत सत्य है। उपशास्त्रीय जैसे ठुमरी आदि तथा कहीं-कहीं भजन, गीत आदि संगीत प्रकारों का समावेश पाठ्यक्रम में है अवश्य पर उनकी शिक्षा के संबंध में उदासीनता ही बरती जाती है। इसका एक कारण यह है कि विद्यार्थियों के गले उतने तैयार नहीं होते दूसरा समय की कमी तीसरा योग्य शिक्षकों का अभाव।

पाठ्यक्रमों में जीविकोपार्जन की समस्या को लेकर व्यावसायिक आधार प्रदान करके इन समस्याओं का अंत करने वाले मुद्दों का पूर्णतः अभाव है। इस कमी के कारण संगीत-शिक्षा एक विद्यार्थी को जीवन-संग्राम में जूझने की शक्ति नहीं दे पाती और विद्यार्थी तब आय प्राप्ति के

लिये अन्य स्त्रोतों की ओर बढ़ता है और तब एकनिष्ठ होकर उसका संगीत साधना करना दूभर हो जाता है और इसका भी प्रभाव संगीत कला के स्तर पर बुरा ही पड़ता है। अतः जीविकोपार्जन की समस्या का समाधान करने के लिये अब संगीत-शिक्षा के पाठ्यक्रम को व्यवसायिक आधार प्रदान करने के साथ-साथ उसमें विविधता लाने की भी आवश्यकता है।

५ समय का अभाव —

संगीत जैसे विषयों के लिये अन्य विषयों की भाँति ४५ मिनट का घंटा सभी महाविद्यालयों में रखा जाता है। जबकि सभी विषयों की शिक्षण अवधि उनकी प्रकृति के अनुसार भिन्न होती है। संगीत जैसे विषय की शिक्षा के लिये ४५ मिनट का घंटा बहुत ही कम समय है। कम से कम ५-१० मिनट तो वाद्ययंत्रों को मिलाने में ही निकल जाते हैं तब बचे समय में क्या शिक्षा दे पायेंगे शिक्षक। तिसपर पाठ्यक्रम और छुट्टियों की अधिकता के कारण समय का यह अभाव और भी खटकता है।

६ छात्र संख्या —

कक्षाओं में छात्र संख्या की कोई सीमा नहीं होती। संगीत एसा विषय है जिसे सामुहिक शिक्षा का विषय बनाने के बाद भी उसकी कक्षाओं में छात्र-संख्या की अधिकता के कारण अध्यापन कार्य उचित रीति से नहीं हो पाता है और इसका भी प्रभाव संगीत-शिक्षा पर पड़ता है। अतः क्रियात्मक कक्षाओं में संगीत-शिक्षा सुविधापूर्ण ढंग से हो सके इसके लिये प्रयोग द्वारा निश्चित किया जाय कि एक कक्षा में निर्धारित सीमा से अधिक छात्रों की संख्या न हो।

६ परीक्षा पद्धति –

शिक्षा का परीक्षा के साथ अटूट संबंध है, क्योंकि परीक्षा ही शिक्षा की कसौटी है यदि शिक्षा-पद्धति ही दोषपूर्ण होगी तो परीक्षा-पद्धति का दोषपूर्ण होना उसके समानांतर ही चलेगा। अतः आज संगीत विषय में भी शिक्षा-प्रणाली में उत्पन्न दोषों के कारण परीक्षा पद्धति भी पूर्णतः दोषपूर्ण हो रही है।

आज हर छोटे-बड़े कस्बों, शहरों, गाँवों तक में संगीत संस्थाये चल रही हैं और ये संस्थाये धड़ल्ले से समीतियों, बोर्डों की परीक्षाये ऐसे विद्यार्थियों से पास करवाती जा रही हैं जिन्हें संगीत का क,ख,ग भी नहीं आ पाता है। फिर यही संगीत की उच्चशिक्षा प्राप्त विद्यार्थी ही संगीत-शिक्षक, व्याख्याता के पद पर आसीन हो जाते हैं। कहीं यदि स्थान नहीं मिला तो वे संगीत-शिक्षा-संस्था खोलकर बैठ जाते हैं।

एक व्याख्याता जिनका कि नाम लेने से उन्होंने मना किया है अपना स्वयं का अनुभव इस प्रकार बताते हैं, "एक बार परीक्षा चलते वक्त मुझे यह अनुभव हुआ। जब परीक्षक विद्यार्थी की क्रियात्मक परीक्षा लेने के दौरान उससे कुछ मौखिक प्रश्न कर रहे थे तब विद्यार्थी बार-बार हाल के सामने की ओर खुलने वाले द्वार की ओर देखने लगता था। उसकी इस हरकत से उन्हें कुछ संशय हुआ; तब जाँच करने के बाद पता चला कि स्वयं विश्वविद्यालय में व्याख्याता के पद पर आसीन महिला उस द्वार की ओर से परीक्षक द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर स्लेट पर लिखकर विद्यार्थी को दिखा रही थीं। हम सबको पता था पर परीक्षक द्वारा इस हरकत को पकड़ लेना कितना शर्मनाक था।" यह है एक विश्व-विद्यालय में चल रही परीक्षा का दृष्टांत तब सामान्य संस्थाओं की गति क्या होगी? इसके भी

कुछ स्वअनुभव पंडित श्यामदास मिश्रजी ने संगीत पत्रिका के १९८४ के अंक में दिये हैं जो इस प्रकार हैं - पंडित जी के अनुसार -, "एक बार मैं एक नगर में गया वहाँ मुझे क्रियात्मक परीक्षा लेनी थी। वहाँ संगीत प्रभाकर के एक विद्यार्थी ने राग मालकौंस गाना आरंभ किया। मैंने कहा कि प्रभाकर के अंतर्गत निर्धारित रागों में से ही कोई राग सुनाओ तो उसने तुरंत जवाब दिया- 'तो ठीक है, भूपाली सुनाता हूँ।" उस परीक्षार्थी को यह तक नहीं मालूम था कि, 'प्रभाकर' में कौन-कौन से राग हैं। मेरे बताने पर भी 'प्रभाकर' के निर्धारित कोर्स का वह एक भी राग नहीं सुना सका।[1]

एक जगह एक केन्द्र पर एक परीक्षार्थी सामने परीक्षा देने बैठा। मैंने आरंभ करने को कहा, तो वह 'जनगणमन अधिनायक जय है -----' तन्मयता से गाने लगा। मेरी तो अजीब स्थिति हो गयी। सोचा, अगर बीच में रोकता हूँ, तो राष्ट्रगीत के सम्मान को ठेस पहुँचेगी; मैं तुरंत खड़ा हो गया राष्ट्रगान के सम्मानार्थ वह परीक्षार्थी पाँच मिनट तक झूम-झूमकर उसी गाने को गाता रहा। रुकने पर ही मैं बैठ सका और पूछा -"भई, किस वर्ष की परीक्षा दे रहे हो?" वह बोला चतुर्थ वर्ष शास्त्रीय गायन की।" मैंने पूछा शास्त्रीय व राष्ट्रीय में कुछ फर्क भी है क्या?" उस परीक्षार्थी ने निर्भीक होकर कहा -"मास्टर साहब मुझे यही गाना सिखाये हैं और प्रत्येक वर्ष मैं यही गाकर पास हो जाता हूँ।" मैंने पूछा-"परीक्षा फीस कितने रुपये दिये थे? दो सौ रुपये फार्म भरते वक्त और दो सौ रुपये अभी कुछ देर पहले जमा कर चुका हूँ।"[2]

दो वर्ष पूर्व की एक घटना मुझे सदा

---

1 संगीत १९८४, मई, 'वर्तमान परिवेश में संगीत परीक्षाओं की व्यवस्था पृ.३९

2 वही

स्मरण रहेगी। एक ऐसे ग्रामीण क्षेत्र में मुझे परीक्षक बना कर भेजा गया, जहाँ पहुँचने के लिये मुझे रेलगाड़ी से बैलगाड़ी तक के बीच ग्यारह स्थानों की विभिन्न सवारियों से यात्रायें करनी पड़ीं, और अंत में तीन किलोमीटर तक पदयात्रा भी करनी पड़ी; तब कहीं जाकर केन्द्र पर पहुँचा। वर्षा होने के कारण पदयात्रा में भारी कठिनाई का सामना करना पड़ा, पर मन ही मन मैं बहुत खुश था कि चलो आज भारतवर्ष के कोने-कोने में संगीत-संस्थायें कार्यरत हैं। मन-ही-मन रजिस्ट्रार महोदय से लेकर केन्द्र-व्यवस्थापक तक को साधुवाद भी दिया। केन्द्र पर प्रातः आठ बजे पहुँचा। मैंने पहले ही पत्र द्वारा इसकी सूचना भेज दी थी कि प्रातः नौ बजे से तीन बजे तक क्रियात्मक परीक्षा सम्पन्न होगी। स्नान करने बैठा तो देखा केन्द्राध्यक्ष एक जोड़ा बढ़िया धोती को लिये चले आ रहे हैं। मैंने पूछा– "ये सब क्या है?" व्यवस्थापक महोदय ने कहा सर आपके पहनने के लिये है।" मैंने कहा कि– "भई, मेरी अटैची में वस्त्र हैं; आप कष्ट न करें।" व्यवस्थापक ने बताया– "यहाँ का यही दस्तूर है; यह सत्रह वर्षों का विद्यालय है।" मैंने इस दस्तूर का खण्डन किया तथा आग्रहपूर्वक उनके इस प्रस्ताव को ठुकराया। जब एक बज गया, तब मैंने कहा कि आपके परीक्षार्थीगण कहाँ हैं? नौ बजे से परीक्षायें शुरु होनी थीं एक बज रहा है मुझे लौटना भी है।" तब उन्होंने कहा– "आप घबरायें नहीं सारी व्यवस्थायें हो जायेंगी। आप खुश होकर जायेंगे। आज तक इस केन्द्र से कोई नाखुश होकर नहीं लौटा है।" मैं उनके कहे का कोई अर्थ न लगा सका। मन-ही-मन अटकलें लगाता रहा कैसी खुशी और कैसी नाखुशी?

दो बज गये तब मैंने थोड़ा बिगड़कर कहा– "आपका यह केन्द्र कैसा है जहाँ अब तक परीक्षार्थियों का पता नहीं है।" तब व्यवस्थापक खुले और कहा– "मिश्राजी यहाँ परीक्षायें नहीं होती रेट फिक्स हैं। प्रथम,

द्वितीय वर्ष ५० रुपये प्रति विद्यार्थी तथा पंचम और षष्ठम वर्ष दो सौ रुपये प्रति विद्यार्थी। मैंने परीक्षार्थियों के हस्ताक्षर करवा लिये हैं कृपया देख लें।" उनके इस कथन पर मैं आवाक् रह गया और कई मिनटों तक किंकर्तव्यविमूढ़ की स्थिति में रहा फिर मैंने बुद्धि से काम लिया। सोचा, अगर इन्कार करता हूँ, तो इनके बीच घिरा हूँ, मुश्किल में पड़ सकता हूँ। बेहतर यही होगा किसी तरह निकलना; और केन्द्रव्यवस्थापक से हस्ताक्षर मुहर आदि भी तो लगवानी थी ताकि यात्राभत्ता बिल तो बन सके। फिर मैंने उन परीक्षार्थीयों द्वारा जमा राशि को लेने से इनकार करते हुये विद्यालय को भेंट स्वरूप देते हुये कहा-" कि मेरी ओर से एक हारमोनियम, तबला तथा तानपूरा आदि खरीदकर कुशल शिक्षकों द्वारा विद्यार्थियों का मार्गदर्शन करायें।" किसी तरह लौटकर जब रेलवे स्टेशन पहुँचा तब चैन की साँस ली और परीक्षाफल में फेल करते हुये संबंधित रजिस्ट्रार को अनुरोध पत्र लिखा कि ऐसे केन्द्रों को तत्काल बंद करने की आवश्यकता है।[1]

एक केन्द्र पर गया तो कुछ ऐसे विद्यार्थी भी मिले, जिन्हें स्वयं यह नहीं पता था कि वे किस वर्ष की परीक्षा दे रहे हैं।[2]

ऐसी अनियमिततायें तो मैंने कई केन्द्रों पर पाईं कि परीक्षार्थी कोई और है और परीक्षा देने कोई और बैठा है। एक प्रमुख केन्द्र पर मुझे इसी तरह परीक्षा लेते हुये कुछ शक सा हुआ और तत्काल मैंने परीक्षार्थी से पूछा कि -" आपके पिता का नाम क्या है? परीक्षार्थी सकपकाया और गलत नाम लिया जो कि

---

[1] संगीत १९८४, मई, वर्तमान परिवेश में संगीत परीक्षाओं की व्यवस्था', पृ. ४०
[2] वही

अंकपत्र में अंकित नहीं था। मैंने जब ज़ोरदार ढंग से पूछताछ की तो पहले परीक्षार्थी ने इन्कार करते हुये कहा- "गलत प्रिंट हो गया होगा।" जब मैंने कहा कि-"एक आवेदन पत्र लिखो अंकपत्र में पिता का नाम गलत छप गया है अतः सुधार दिया जाय।" तब परीक्षार्थी और केन्द्र-व्यवस्थापक बुरी तरह घबराये। अंत में उन्होंने सच्चाई स्वीकारी। इस घटना के कारण मैंने संबंधित रजिस्ट्रार से अनुरोध किया कि बी. म्यूज. और प्रवीण स्तर की परीक्षाओं में आवेदन-पत्र पर फोटो चिपकायें। इसके लिये प्रयाग संगीत समीति के रजिस्ट्रार को मैं साधुवाद देता हूँ कि उन्होंने ऐसी व्यवस्था की है। परंतु इसमें एक और सुझाव है कि फोटोग्राफ पर रजिस्ट्रार के हस्ताक्षर व मुहर लगी हो, तो बेहतर होगा। परीक्षार्थियों द्वारा फोटो बदलने की घटनायें भी मैंने पकड़ी हैं।[1]

यह घटनायें तो आम जैसी हैं कि केन्द्र-व्यवस्थापक अनुचित दबाव डालकर परीक्षार्थियों को पास-फेल करवाते हैं। एक बार मैं एक केन्द्र पर परीक्षा लेने गया। परीक्षा के बाद केन्द्र-व्यवस्थापक ने मुझसे नंबर जानने चाहे। मैंने स्पष्ट इन्कार कर दिया। तब केन्द्र-व्यवस्थापक ने मुझसे कुछ ऐसे विद्यार्थियों को फेल करने के लिये कहा, जिन्हें मैंने अच्छा पाया था। इसका कारण जानना चाहा तो पता चला उक्त परीक्षार्थी केन्द्र व्यवस्थापक का शिष्य नहीं था और केन्द्र व्यवस्थापक अपना ट्यूशन-मार्केट बनाने की खातिर उस परीक्षार्थी को फेल करवाना चाहते थे। दूसरी ओर वही केन्द्र व्यवस्थापक अपने कुछ शिष्यों को जिन्हें कुछ भी नहीं आता था, पास करने की पैरवी मुझसे कर रहे थे। स्टेशन तक यही चर्चा करते रहे; ट्रेन चलते वक्त एक पुर्जा पकड़ाया जिसमें उनके अपने शिष्यों की लम्बी लिस्ट थी। घर आने

---

१ संगीत १९८४, मई, 'वर्तमान परिवेश में संगीत परीक्षाओं की व्यवस्था', पृ. ४०

पर कई पत्र भी आग्रह भरे उनके प्राप्त हुये और परीक्षाफल घोषित होने पर गालियों भरा पत्र भी प्राप्त हुआ।[1]

एक केन्द्र व्यवस्थापक ने तो उस समय हद ही कर दी, जब वे स्वयं मेरे घर पर पहुँच गये तथा कहने लगे – "कहाँ जायेंगे मिश्राजी, आप परीक्षा लेने। बड़ी दिक्कतों का रास्ता है। मैं स्वयं आ गया हूँ सेवा में।" बच्चों की मिठाई के नाम पर उन्होंने ५००/- निकाले और कहने लगे – "आप जायेंगे तो आने-जाने में खर्च तो होगा ही, समय भी बरबाद होगा। अच्छा होगा, आप यहीं बैठे-बैठे नंबर भरकर भेज दें। मैं परीक्षार्थियों के हस्ताक्षर पत्र ले आया हूँ।" मैंने उन व्यवस्थापक महोदय को काफी फटकारा तथा कहा कि- "आपने इतनी हिम्मत कैसे की। और, जब निश्चित तिथि पर मैं उस केन्द्र पर गया तो, माहौल देखकर मन अजीब घृणा से भर उठा। एक भी परीक्षार्थी स्वर-लय में नहीं था।[2]

एक केन्द्र पर, 'प्रभाकर' के एक परीक्षार्थी ने हारमोनियम बजाकर गाना चाहा। मैंने रोका, और देखा कि स्वर खोलकर गाने पर भी परीक्षार्थी बेहद बेसुरा गा रहा है। फिर मैंने बजाकर गाने की अनुमति दी कि देखूँ स्वर से कितना वास्ता है। देखकर हैरानी हुई कि हारमोनियम का स्वर कहीं है, गा कहीं से रहा है। इस केन्द्र पर परीक्षार्थियों ने तानपूरा देखा तक नहीं था।[3]

अनुमंडलीय स्तर के शहर में एक केन्द्र पर मैं परीक्षा लेने पहुँचा, तो सारे दिन मैं विद्यालय को खोजता

---

१ संगीत, १९८४, पृ. ४१, मई, 'वर्तमान परिवेश में संगीत परीक्षाओं की व्यवस्था'
२ वही, १९८४, पृ. ४१, ,, ,' " " " " " " "'
३ वही

रहा था कई लोगों से पूछताछ करता रहा, पर सभी ने अनभिज्ञता ही जाहिर की। समीति द्वारा प्रेषित पतों पर भी काफी खोज-बीन की; न कोई साईन बोर्ड न कोई विद्यालय काफी शाम बीतने पर पता चला कि विद्यालय तो कोई नहीं है पर हाँ, इस नाम का व्यक्ति पान की दुकान चलाता है। खोजता-खोजता पहुँचा तो दुकानदार सज्जन ही केन्द्र व्यवस्थापक निकले। सबसे पहले दिन भर से ढो रहे रिक्शेवाले से निबटना पड़ा। तब केन्द्रव्यवस्थापक महोदय से मुखातिब हुआ; जो अब भी झूमझूमकर पान लगाकर ग्राहकों को पेश कर रहे थे।[1] उनके पास बिठाने की जगह भी नहीं थी, अतः मैं भी अन्य ग्राहकों की भाँति खड़े रहने को बाध्य था। केन्द्र व्यवस्थापक कहने लगे – "पूरे दिन आपका इंतजार किया, पर आप नहीं आये।" मैंने कहा आपको लिख देना था कि विद्यालय पान की दुकान में कार्यरत है।"[2]

ये तो केन्द्रव्यवस्थापक की व परीक्षार्थियों की बातें हुई। कुछ परीक्षक महोदय भी विचित्र होते हैं, जिनकी अजीबोगरीब हरकतों से केन्द्रव्यवस्थापकों को ही नहीं अपितु परीक्षार्थियों व अभिभावकों को भी परेशानियाँ उठानी पड़ती हैं; बदनामी होती है समीतियों और बोर्डों की।

मैंने अनेकों ऐसे परीक्षकों को देखा है जिन्हें स्वर और लय से वास्ता नहीं। एक परीक्षक राग-पहचान कराते वक्त इतने बेसुरे हो रहे थे कि स्वयं मुझे भी पता नहीं चला कि वे आखिर कौन सा राग पूछ रहे हैं।[3]

क्रियात्मक परीक्षकों के लिये एक बड़ी समस्या यह है कि वे किसी केन्द्र पर परीक्षा ले रहे हैं, अगर यही केन्द्रव्यवस्थापक अगले वर्ष परीक्षक के रूप में उनके

---

१ संगीत, १९८४ पृ. ४१, मई, 'वर्तमान परिवेश में संगीत परीक्षाओं की व्यवस्था'
२ वही, १९८४ पृ. ४२, मई' " " " " " " "

केन्द्र पर पधारेंगे, तो निश्चय ही बदला लेंगे। इस संकीर्णता से वे उबर नहीं पाते, फलस्वरूप वे केन्द्र-व्यवस्थापक की हाथों की कठपुतली बन जाते हैं। और जब वही केन्द्र-व्यवस्थापक परीक्षक होकर आते हैं तो उनसे वे भी अपने गलत कार्यों को संपादित करवाते हैं। यह प्रक्रिया सचमुच ही चिन्तनीय है। मैं स्वयं इसका भुक्तभोगी हूँ। कुछ वर्ष पूर्व मैं एक केन्द्र पर गया और काफी ईमानदारी और न्याय देते हुये वहाँ मैंने परीक्षायें लीं। दो वर्ष के पश्चात् उक्त केन्द्र के व्यवस्थापक परीक्षा लेने मेरे केन्द्र पर पधारे। मैंने उन्हें उचित मानसम्मान दिया, पर उन्होंने बदले की भावना से ग्रस्त होकर मेरे काफी अच्छे और कुशल परीक्षार्थियों को चुन-चुनकर फेल किया। संयोग से एक वर्ष के पश्चात् ही मैं पुनः उनके केन्द्र पर परीक्षक नियुक्त हुआ। अब वे काफी घबराये, दौड़-धूप करके रजिस्ट्रार से मेरा नाम कटवाकर अन्य परीक्षक की नियुक्ति करवाई। जबकि मैं बदले की भावना में कतई विश्वास नहीं करता। इसमें परीक्षार्थी का क्या दोष जो उससे बदला लिया जाय। मेरी दृष्टि में इस विचारधारा के अंतर्गत किये गये कार्य निंदनीय हैं।

कुछ परीक्षक अपनी धाक जमाने के चक्कर में अपना आपा खो बैठते हैं, तो कुछ परीक्षक अच्छे व कुशल परीक्षार्थी को अपना प्रतियोगी मानकर दुश्मन की तरह व्यवहार करते हैं। अनावश्यक प्रश्नों की झड़ी लगा देते हैं और कहीं न कहीं परीक्षार्थी को फँसाना ही अपना ध्येय समझते हैं।

एक केन्द्र पर एक परीक्षक द्वितीय वर्ष (गायन) की एक परीक्षार्थी छात्रा से तिलक कामोद, मालकौंस पूछने लगे संबंधित केन्द्र-व्यवस्थापक ने विनयपूर्ण भाव से कहा – "महोदय ये तो पाठ्यक्रम के तृतीय वर्ष के राग हैं; आप कृपया द्वितीय वर्ष के राग पूछें।" इस पर परीक्षक

महोदय तमतमाकर खड़े हो गये तथा कागज कलम फेंकते हुये बोले, " फिर आप लीजिये परीक्षा मैं चला। बहुत अनुनय विनय के बाद परीक्षक महोदय को मनाया जा सका, पर उनकी कड़वाहट का फल बाद के सारे विद्यार्थियों को भुगतना पड़ा।[1]

अक्सर परीक्षार्थियों की खातिर मेहमानों से बढ़कर की जाती है। परंतु कुछ परीक्षक उस पर भी अकड़कर ढेरों सामान की लिस्ट या अनावश्यक वस्तुओं की खरीद-फरोक्त शुरू कर देते हैं। शिष्टाचारवश केन्द्र व्यवस्थापक को काफी परेशानी उठानी पड़ जाती है। एक परीक्षक मेरे केन्द्र पर परीक्षा लेने पधारे। आते ही उन्होंने मुर्गी की फरमाइश की। अब बड़हिया में इसकी व्यवस्था होने में काफी कठिनाई हुई, देर होती देख परीक्षक का गुस्से से पारा सातवें आसमान पर चढ़ने लगा। लगे अपना बिस्तर बाँधने और, एक मोटरसाइकिल से चालीस किलोमीटर दूर मुंगेर से मुर्गा बनवाकर मँगवाया, तब जाकर परीक्षक महोदय का क्रोध शांत हुआ। शाम होते ही उन्होंने इंगलिश शराब की माँग कर दी, अब तो मेरे लिये मुश्किलों का अंबार लग गया। एक तो वैष्णव परिवार का मैं, ऊपर से छोटे शहर में इंगलिश शराब का मिलना मुश्किल। फलस्वरूप एक व्यक्ति को पटना भेजकर मँगवाई गई, जिस पर जरूरत से ज्यादा लागत का बोझ उठाना पड़ा। वैसे, उचित तो यही था कि इस तरह की नाजायज व्यवस्था से स्पष्ट इन्कार कर देता। पर परीक्षक महोदय बात-बात में बिस्तरा बाँधने लगते थे। फलस्वरूप मुझे उनकी आदतों को देख मजबूरन व्यवस्थायें करनी पड़ीं; अन्यथा पुनः दूसरे परीक्षक की नियुक्ति में काफी समय लगता। ऊपर से नियमानुसार दूसरे परीक्षक का पूरा

---

1 संगीत १९८४, मई, 'वर्तमान परिवेश में संगीत परीक्षाओं की व्यवस्था पृ. ४२

यात्रा-भत्ता वहन करना पड़ता और परीक्षार्थियों को परेशानी उठानी पड़ती सो अलग।[1]

एक परीक्षक तो मई महीने की गर्मी में भी अपने जाड़े का गंदा कोट, पतलून, स्वेटर, दुशाला आदि लेते आये और कहा- "इन्हें लान्ड्री में धुलवा दें।" अब मुझे अपने पास से अर्जेन्ट धुलाई-चार्ज देकर उनके सारे वस्त्र धुलवाने पड़े।[2]

एक केन्द्र में एक परीक्षक बात-बात पर परीक्षार्थियों को डाँट पिलाने लगे। प्रथम वर्ष की छोटी-छोटी बच्चियों से भी डाँट-डाँटकर बातें करते तथा बात-बात में धमकी देते, "फेल कर दूँगा।" एक बच्ची से इसी क्रम में परीक्षक ने पूछा- "बोलो, कैसे परीक्षा पास की जाती है?" बुजुर्ग केन्द्र व्यवस्थापक ने खुश होते हुये परीक्षा दे रही बच्ची से कहा "बोलो न मेहनत और अभ्यास से।" इतना कहते ही परीक्षक महोदय आपे से बाहर हो गये तथा व्यवस्थापक को डाँटते हुये कहने लगे- "आप चुप रहिये परीक्षा मेहनत व अभ्यास से नहीं नोटों से पास की जाती है।" संयोग से उस केन्द्र पर मैं भी उपस्थित था। मेरे साथ ही वहाँ बैठे सारे परीक्षार्थी और अभिभावकगण भी आवक रह गये। दूसरे केन्द्र पर, बोलना उचित न समझकर मैं चुपचाप वहाँ से लौट गया। बाद में पता चला कि उक्त परीक्षक चार हजार रुपये कमाकर गये।[3]

कोई-कोई परीक्षक तो इतने घटिया दर्जे के होते हैं कि उनसे घृणा होने लगती है। इसी नमूने के एक परीक्षक मेरे केन्द्र पर पधारे। कत्थक नृत्य

---

१ संगीत १९८४, मई, 'वर्तमान परिवेश में संगीत परीक्षाओं की व्यवस्था,' पृ.४२
२ वही
३ वही

की परीक्षायें चल रहीं थीं। एक उच्च अधिकारी की पुत्री पंचम वर्ष (कत्थक-नृत्य) की परीक्षा दे रही थी। परीक्षक महोदय पूरे मूड़ में आकर इस तरह वाहवाही देने लगे, जैसे वे परीक्षक न होकर कोठे पर के रईस हों। मुस्कुरा-मुस्कुराकर बातें करते तथा अन्य परीक्षार्थियों व अभिभावकों की उपस्थिति में ही नृत्य कर रही परीक्षार्थियों को 'फर्स्ट डिवीज़न' देने का आश्वासन देते हुये सीमा उन्होंने तब पार कर दी जब वे उक्त परीक्षार्थी से किसी फिल्मी गाने पर नृत्य करने की फरमाइश करते हुये बोले – "कोई ऐसा फिल्मी डाँस दिखाओ जिसमें कमर अधिक लचके।" बरदाश्त की भी कोई सीमा होती है। उक्त परीक्षार्थी छात्रा की माँ वहीं उपस्थित थीं। वे तमतमाकर उठ खड़ी हुईं, पर मेरी प्रतिष्ठा रखते हुये अपनी बच्ची को तुरंत वहाँ से ले गयीं।" बाद में उस छात्रा के अभिभावक ने इसी घटना के कारण अपनी पुत्री को नृत्य की शिक्षा ही दिलानी बंद कर दी।[1]

यद्यपि मुझे अभी स्वयं परीक्षा लेने का कोई अनुभव नहीं है और अधिकारी व्यक्ति से बातें करने पर इस विषय में कोई खुलकर सामने आना नहीं चाहता अतः मैंने संगीत पत्रिका में पंडित श्यामदास मिश्र के अनुभवों को ही उदाहरण रूप में यहाँ उद्धृत करके इस पक्ष पर प्रकाश डालने की कुछ चेष्टा की है।

यह तो हुआ क्रियात्मक-परीक्षा सम्पन्न होने तक होने वाला भ्रष्टाचार आगे लिखित प्रश्न-पत्रों के समय की जाने वाली धाँधली भी कुछ कम नहीं है। लिखित परीक्षा के मूल्यांकन हेतु अंक-प्रणाली अधिक न्यायोचित और तर्कसंगत नहीं है। ३३% प्रतिशत अंक

---

1 संगीत १९८४, मई 'वर्तमान परिवेश में संगीत परीक्षाओं की व्यवस्था' पृ. ४४

पाने पर विद्यार्थी उत्तीर्ण, ४५ अथवा ४८ प्रतिशत अंक पाने पर विद्यार्थी द्वितीय श्रेणी तथा ६० प्रतिशत अंक पाने पर प्रथम श्रेणी, ६५ प्रतिशत अंक प्राप्त होने पर विशेष योग्यता प्राप्त समझा जाता है। ३३ प्रतिशत अंक से ४४ प्रतिशत अंक तृतीय श्रेणी, ४५ प्रतिशत से ५९ प्रतिशत तक द्वितीय श्रेणी, ६० प्रतिशत से ६४ प्रतिशत अंक प्रथम श्रेणी तथा ६५ से १०० प्रतिशत अंक विशेष योग्यता के सूचक हैं। अंकों के आधार पर योग्यता प्रदान करने की इस विधि में दोष यह है कि इसमें ३३ प्रतिशत अंक पाने वाला भी तृतीय श्रेणी की योग्यता रखता है और ४४ प्रतिशत अंक पाने वाले की भी तृतीय श्रेणी ही रहती है। यही परिस्थिति द्वितीय श्रेणी, प्रथम श्रेणी, विशेष योग्यता के क्षेत्र में भी है। किसी प्रश्न के उत्तर हेतु जो भी अंक दिये जाते हैं; परीक्षक की इच्छा पर ही निर्भर होते हैं। किसी प्रश्न को १०० में ३५ अंक तो दूसरे को ३६ या ३८ अंक किस आधार पर दिये जा रहे हैं, इसका कोई समाधान-कारक उत्तर नहीं दिया जा सकता। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि ३५ से ३८ अंक प्राप्त करने वाले का उत्तर अधिक अच्छा है। परंतु उसी परीक्षक द्वारा कभी-कभी इससे हल्के उत्तर हेतु अधिक अंक भी प्रदान कर दिये जाते हैं।

अंक मूल्यांकन प्रणाली शैक्षिक उपलब्धि का एक बहुत अपूर्ण मापदण्ड है ऐसा क्यों, इस संबंध में कुछ कारण नीचे दिये जा रहे हैं —

१ निश्चिंतता —

परीक्षकों के स्तरों में बड़ी विभिन्नता होती है हम निश्चय ही यह चाहते हैं कि एक विद्यार्थी के अंक उसके उत्तर की गुणवत्ता से संबंधित हों, न कि इस बात पर कि कौन सा परीक्षक अंक

प्रदान करेगा।

२ परीक्षक प्रायः यह निर्णय करते हैं कि कौन उत्तीर्ण हो और कौन अनुत्तीर्ण। यदि उत्तीर्ण अंक ३५ है तो वे सामान्य रूप से ३५ अंक प्रदान करते हैं तथा बहुत कम (शायद कोई नहीं)। ३४ या ३३ अंक प्रदान करते हैं। इसी प्रकार की ग्रंथि प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी के न्यूनतम अंकों में भी देखी जा सकती है।

३ यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि कुछ विषयों में जैसे गणित में अधिकतम प्रदत्त अंक १०० हो सकते हैं तथा न्यूनतम ० या शून्य के समीप। बहुत से अन्य विषयों में ऐसा कभी नहीं होता। उदाहरणार्थ, अधिकतम अंक ६० तथा न्यूनतम अंक २० हो सकते हैं। इस प्रकार १०० अंकों के प्रश्न पत्रों में अंकों की वास्तविक परिधि पचास होती है। जब विभिन्न प्रश्नपत्रों के अंक जोड़े जाते हैं, तब जिस विषय में अंकों की परिधि अधिक होती है, उनका कुल परिणाम पर असंतुलित प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ हम दो विषयों के अंक जैसे रसायन शास्त्र के अंक की परिधि ३० से ६० के बीच रहती है तो गणित के अंकों की परिधि ५ से ६५ तक परिवर्तित होती है। इसका परिणाम यह होगा कि गणित का भार रसायन शास्त्र की अपेक्षा तीन गुना होगा। परिणामतः हम विद्यार्थी के गणित में प्रदर्शन का मूल्यांकन करेंगे न कि रसायनशास्त्र का।

इसके साथ ही परीक्षार्थी की क्रियात्मक-परीक्षा भी न्यायपूर्वक नहीं ली जाती है न उसका मूल्यांकन ही न्यायपूर्ण ढंग से हो पाता है। यह मेरा स्वयं का अनुभव है कि प्रथम तथा द्वितीय वर्ष की क्रियात्मक परीक्षा गायन या नृत्य विषय में परीक्षक

एक साथ छः-छः अथवा बीस-बीस परीक्षार्थियों की लेते हैं। उच्च-वर्ग की परीक्षाओं में भी यदि विद्यार्थियों की संख्या कम है तब तो ठीक अन्यथा बहुत कम समय में सभी विद्यार्थियों की परीक्षा लेकर परीक्षक खाना-पूर्ति कर देते हैं। इन विद्यार्थियों के द्वारा उस समय दिये गये क्रियात्मक परीक्षण का कुछ भी शेष नहीं रहता है कि बाद में किसी प्रकार की आवश्यकता पड़ने पर उसका पुनर्मूल्यांकन हो सके। इस प्रकार सम्पूर्ण परीक्षा प्रणाली आज जिस प्रकार से अन्य विषयों में लागू है, वही संगीत विषय के लिये भी उपयुक्त मान ली गयी है।

(ब) घरानेदार शिक्षा पद्धति का लोप —

हमारे प्राचीन संस्कृत साहित्य में 'संगीत-शिक्षा-प्रणाली' के विषय में कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता है। जो थोड़ी सामग्री यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती है उसके आधार पर यही अनुमान लगाया जा सकता है कि संगीत शिक्षा विशेष रूप से व्यक्तिगत रूप से दी जाती रही होगी और इसे ही गुरु-शिष्य-परंपरा के नाम से सम्बोधित किया गया होगा। वैदिक युग में संगीत शिक्षा संबंधी जो विवरण प्राप्त होता है उसके अंतर्गत किसी विद्यालय अथवा शाला के नाम का उल्लेख प्राप्त नहीं होता इसके अतिरिक्त कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या आदि के संबंध में भी कोई विवरण प्राप्त नहीं होता।

"प्राचीन संस्कृत साहित्य में पाठ्य तथा गान की तीन वृत्तियों विलम्बित, मध्य तथा द्रुत के उल्लेख के साथ आचार्य की महत्ता का भी प्रतिपादन किया गया है। इसी संदर्भ में कहा गया है कि स्वर-शास्त्र का जिन्होंने गंभीर अध्ययन किया हो वही शिष्यों के अध्यापन के लिये सुयोग्य शिक्षक हैं। स्वर-शास्त्र के प्रायोगिक-पक्ष परिज्ञान के लिये गुरु सान्निध्य अत्यन्त आवश्यक है।"[1]

उपरोक्त पंक्तियों से अनुमान लगता है कि वैदिक-युग में संगीत-शिक्षा व्यक्तिगत रूप में निश्चय ही गुरुकुल परंपरा द्वारा दी जाती होगी।

किन्तु बौद्ध-काल में कलाओं के संदर्भ में जातक-साहित्य में उपलब्ध सामग्री द्वारा कुछ विशेष विश्वविद्यालयों की जानकारी प्राप्त होती है।

---

1 भारतीय संगीत का इतिहास, डा. श्रीधर शरच्चंद्र परांजपे, पृ.१२

वाराणसी उस समय एक महत्वपूर्ण विद्या केन्द्र था। नालन्दा, विक्रमशिला, तदन्तपुरी, तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों में गांधर्व का स्वतंत्र विभाग (फैकल्टी) था। तथा इसके अधिष्ठाता के रूप में भारत विख्यात संगीतज्ञों की नियुक्ति हुआ करती थी।१

कुशल नृत्य-गान विशारद गन्धर्वों के होने का उल्लेख महाभारत-काल में मिलता है। ये संगीताचार्य होते थे। अर्जुन ने इन्हीं गन्धर्व संगीताचार्यों से संगीत की शिक्षा ली थी। अर्जुन स्वयं महाराज विराट की पुत्रि उत्तरा को संगीत शिक्षा देते थे। गुरु का पद अत्यन्त सम्माननीय था जैसा कि अर्जुन के कथन से स्पष्ट है - जब वे विराट के द्वारा उत्तरा से विवाह के प्रस्ताव पर कहते हैं कि उत्तरा से उनका संबंध पितातुल्य है।२

रामायण काल में संगीतकारों के अन्तर्गत संगीत के वे ज्ञाता आते थे जो व्यवहार और सिद्धांत दोनों में कुशल हों। लव-कुश के गुरु आचार्य वाल्मीकि ही थे। जिन्होंने वेद मंत्रों के अतिरिक्त रामायण के सुस्वर पाठ करने की शिक्षा भी उन्हें दी थी।

गुरु कुल शिक्षा पद्धति का अनुमोदन भरत काल में भी प्राप्त होता है। भरताचार्य ने आचार्य के अनेक गुणों में - स्मरण-शक्ति, मति, तर्कशक्ति, मेधा आदि तथा शिष्यों के गुणों में - बुद्धि, स्मरण-शक्ति, श्रद्धा, कार्य के प्रति लगन, संघर्ष, उत्साह आदि का उल्लेख किया है।३

जैनकाल में मुनि सुंदर सुर कृत, 'जयानंद देवल चरित्र' में भी संगीत-शिक्षा के विषय में गुरुकुल शिक्षा

---

१ 'भारतीय संगीत का इतिहास', डा. श्रीधर शरच्चंद्र परांजपे, १६१

२ प्राचीन भारत में संगीत, धर्मावती श्रीवास्तव, पृ. ६९-७०

३ संगीत बोध, डा. श्रीधर शरच्चंद्र परांजपे, १७१

पद्धति के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं।[1]

महाकवि कालीदास के नाटकों में भी संगीत शिक्षण के संबंध में उल्लेख हैं। नृत्य के शिक्षण के संबंध में महाकवि कालीदास के नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' नामक नाटक में हरदत्त और गणदास में नृत्य-शिक्षा पर प्रतिस्पर्धा और वाद-विवाद का रुचिकर उल्लेख है, जिसमें वे छात्र को नृत्य कला की शिक्षा देने और उसमें कला के उचित प्रबोधन की क्षमता के विकास के सही तरीकों पर विचार-विमर्श करते हैं।[2]

इस प्रकार प्राचीन काल की शिक्षण-प्रणाली के संबंध में हम स्पष्टतया कह सकते हैं कि संगीत का स्थान उसमें उच्च विद्या एवं कला के रूप में था। व्यक्ति के सुसंस्कृत और सभ्य समझे जाने हेतु अन्य विद्याओं के साथ संगीत विद्या का ज्ञान भी आवश्यक था। संगीत शिक्षा के लिये गुरुकुलों तथा आधुनिक अर्थों में संस्थाओं का भी उल्लेख मिलता है; किन्तु यह सत्य है कि कुशलता और निपुणता प्राप्त करने के लिये प्रत्यक्ष गुरु मुख से व्यक्तिगत रूप से संगीत शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक था।

प्राचीन काल में गुरुकुल शिक्षा पद्धति का आग्रह केवल संगीत कला के क्षेत्र में ही नहीं था; अपितु भारतीय दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, शस्त्र-विद्या, सांख्य-शास्त्र, आयुर्वेदविज्ञान तथा अन्य सभी कलाओं और विषयों में गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति ने अभूतपूर्व क्रांति पैदा कर दी थी। गुरुकुल का अर्थ है गुरु के घर में रहकर विद्यार्जन करना। उस काल में विद्यार्थी किसी गुरु के आश्रम में रहकर किसी भी विषय की शिक्षा ग्रहण करते

---

१ भारतीय संगीत का इतिहास, भगवतशरण शर्मा, पृ. १६.

२ मालविकाग्निमित्रम्, कालीदासरचित, पृ. २८, अंक १-२.

करते थे। शिक्षा प्राप्ति के लिये उन्हें कई-कई वर्षों गुरु की सेवा में रत होना आवश्यक था।

'गुरु', 'विनय', और 'साधना' इन तीनों शब्दों का इस परम्परा में बहुत महत्वपूर्ण स्थान था।

'गुरु' जो किसी विषय से पूर्णरूपेण परिचित करवाये, उपदेश एवं ज्ञान दे, वो गुरु की पदवी ग्रहण करने योग्य है। "Guru, as many people now know, means, master, spiritual teacher, preceptor."[1]

गुरु को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है। इसलिये गुरु का आदर अन्य सब मनुष्यों से अधिक किया जाना चाहिये। इस संबंध में सूरजभान लिखते हैं —

'उत्पादक ब्रह्मदात्री गैरियान ब्रह्मदा पिता।
ब्रह्मा जन्म हि विप्रस्य चे हयशाश्वतम्॥"

अर्थात भौतिक शरीर को जन्म देने वाले पिता और ज्ञान देने वाले गुरु में से ज्ञान देने वाला गुरु पिता की अपेक्षा अधिक पूज्यनीय है।[2]

पंडित रविशंकर जी के अनुसार —

"We give a very important place to the 'Guru', for we consider him to be the representation of the divine. There is a saying—

'पानी पीया छान के,
गुरु बनाया जानके।'

which means that one should drink water only after it has been filtered, and one should take a Guru only after one feels sure of the decision'[3]

---

1. My Music My Life, पं. रविशंकर, पृ. 11
2. शिक्षा में नये प्रयोग, सूरजभान, पृ. ६६
3. My Music My Life, पं. रविशंकर, पृ. 11

'विनय' से तात्पर्य है 'विनम्रता' से। विनम्रता को बहुत बड़ा गुण माना जाता था। प्रत्येक शिष्य यह समझता था कि उसके माता-पिता और गुरु का आदर करने से ही उसका निर्वाण होगा। इसलिये प्राचीन भारत में बालकों को इस बात की शिक्षा दी जाती थी कि वे 'लौकिक' और 'अलौकिक' दोनों ही क्षेत्रों में पदारूढ़ सत्ता की अधीनता स्वेच्छापूर्वक ही स्वीकार कर सकें।

इस शिक्षा-पद्धति का तीसरा गुण 'साधना' था। जिसका तात्पर्य अभ्यास, कठिन परिश्रम तथा अनुशासन से था। 'The thired principal term associated with our music is 'Sadhana' which means practice and discipline eventually leading to self realization. It means practicing with a fanatic zeal and ardent dedication to the Guru and the music.'[1]

इस पद्धति में शिष्य अनुशासन को स्वयं ग्रहण कर लेता था, अनुशासन उसे सिखाना नहीं पड़ता था।

इस प्रकार गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति में गुरु, विनय तथा साधना बहुत महत्व रखते थे। इनके अलावा शिक्षण स्थान का भी बहुत महत्व था। शिक्षण स्थान जन कोलाहल से दूर, एकान्त में प्रकृति की गोद में होता था। जहाँ के सौन्दर्य से प्रभावित होकर मानव स्वयं ही प्रभु की महिमा गा उठता था। ऐसे स्थान में चित्त को एकाग्र करना भी अपेक्षाकृत सरल था। दूसरे शब्दों में संगीत शिक्षा में स्थान की एकान्तता भी महत्वपूर्ण थी।

---

1 My music my life, पं. रविशंकर, पृ. १२

ये गुरु अपनी विद्याओं में पूर्णतः पारांगत थे। ये कुछ शिष्यों को अपनी परीक्षा द्वारा चुनकर स्वीकार कर लेते थे। फिर उन्हें पूर्ण इमानदारी से अपनी विद्या प्रदान करते थे। इसमें लाभ-हानि द्रव्य अर्जन का कोई प्रश्न नहीं था। इसलिये गुरु और शिष्य के परस्पर संबंध बहुत अच्छे होते थे; बहुत आत्मीयता-पूर्ण होते थे। 'The relation between the teacher and the taught were of the happiest kind. The pupil looked up to his preceptor as his father. The teacher and his pupil were united by a common aim of preserving and propagating the sacred teaching and showing its worth in their life and conduct.'१

'जिस प्रकार आजकल घरानेदार शिक्षा पद्धति में किसी गायकी विशेष को स्वीकार करने के लिये उस्ताद से शिष्य को गंडा बंधवाकर संगीत शिक्षा प्रारंभ करनी पड़ती है; उसी प्रकार प्राचीन काल में इस विधि का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। उस काल में भी इस अवसर पर सम्पन्न छात्र गुरुदक्षिणा में हीरे-मोती देते थे तो कुछ गरीब छात्र, यथासंभव धन एकत्र करके देते थे।'२

हिन्दुस्तानी संगीत में गुरुकुल-पद्धती के संबंध में प्रो. बी. आर. देवधर लिखते हैं—

'अपनी आजीविका के लिये उनको एक प्रकार की भिक्षा-वृत्ति पर, जिसे 'मधुकरी' कहते हैं निर्भर रहना होता था। इतना ही नहीं यदि, गुरु ईश्वर भक्ति में लीन सर्वस्व त्यागी होता, तो उसके उदर-पोषण का भार

---

१ 'Ancient Indian education' Radha kumud Mookerje, पृ. १०१

२ संगीत कला विहार, 'पारंपरिक संगीत शिक्षा प्रणाली और संगीत शिक्षा एक तुलनात्मक अध्ययन' १९८०, रातान्जनकर, पृ. २४४, अगस्त

भी शिष्य पर आ पड़ता था। अतः इस तरह शिष्य की भिक्षावृत्ति पर गुरु की आजीविका भी चलती थी। अकबर कालीन स्वामी हरिदास इसी कोटि के गुरु थे।

संक्षेप में प्रत्येक विद्यार्थी गुरुधारणा के बाद दक्षिणा के रूप में कुछ न कुछ अपने गुरु को दिया करते थे। इस क्रिया से विद्या के बारे में पवित्र भावों का निर्माण होने में मदद होती थी। गुरु शिष्य का नाता आजन्म अटूट माना जाता था। गुरु छात्र को अपने पुत्र जैसा ही मानते थे। इस प्रकार नज़दीकी और प्रेम का नाता होने से शिष्य भी बड़े उत्साह और लगन से परिश्रम करता था। इस विधि के समाज के कुछ मान्यवर सज्जन साक्षी होते थे।

प्राचीन काल में गुरु-मुख द्वारा दी जाने वाली यह शिक्षा पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रही। पूर्व मध्यकाल (लगभग आठवीं शताब्दी) से इसमें थोड़ा परिवर्तन आया जिसके फलस्वरूप 'घरानों' की नींव पड़ गयी। यह 'घराना' अथवा 'संप्रदाय' गुरु तथा शिष्य के संयोग से बनता है। तथा इनकी शिक्षण पद्धति पूर्णरूपेण गुरुकुल पद्धति पर ही आधारित थी। ये घराने क्यों और कैसे बने? और संगीत शिक्षण का इन घरानों से क्या संबंध है? ये जानने से पहले हमें यह जानना आवश्यक है कि 'घराना' शब्द का अर्थ एवं तात्पर्य क्या है?

वैसे तो घराना शब्द के अनेक अर्थ हैं जैसे घर, कुटुम्ब, परिवार, सम्प्रदाय, वंश, परंपरा आदि, परंतु संगीत में 'घराने' का जो तात्पर्य है उस संबंध में अनेक मत हैं —

श्री बाबू भाई बैंकर संगीत घराने की व्याख्या करते हुये कहते हैं - 'इस शब्द की उत्पत्ति 'घर' शब्द से हुई, जिस प्रकार एक घर के सब लोग मिलकर रहते हैं। सभी का रहन-सहन का ढंग, बोलने-चालने का ढंग और तौर-तरीके एक से होते हैं, उसी

प्रकार एक ही शैली से गाने वालों को एक ही घराने का कह सकते हैं। यधपि फिर भी गायक के गायन में बौद्धिक स्तर के कारण फर्क हो सकता है, आवाज़ तथा गाने के विस्तार में भी फर्क हो सकता है। परंतु फिर भी एक घराने की गायन शैली के आधार पर गायन के ढंग का आधार एक ही होता है।'[1]

डा. कृष्णरावशंकर पंडित के अनुसार – 'शताब्दियों या बहुत वर्षों की परंपरा, उच्चकोटि के गुरु और कई पीढ़ियों की गुरु-शिष्य-परम्परा सब मिलाकर एक घराना बनता है।'[2]

आपके ही कथनानुसार – 'भारतीय संगीत की यह विशेषता है कि इसमें कलाकार को अपनी प्रतिभा दिखलाने की पूर्ण स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छंदता नहीं है। गायक अपनी इच्छानुसार गीत नीयमों का पालन करते हुये, उस गीत के विभिन्न आलाप, बोल, बोल-तान, तान, गमक, मींड इत्यादि की रचना तथा विभिन्न लयकारियों के चमत्कार अथवा अलग ही कला-विश्व निर्माण करता है। राग तो वही रहते हैं, किन्तु उनके प्रस्तुतिकरण के ढंग अलग-अलग रहते हैं। इसी से विभिन्न घरानों का उदय हुआ। विभिन्न शैलियों के के निर्माताओं ने अपनी प्रतिभा तथा कठिन साधना से एक शैली का निर्माण किया जो लोकप्रिय हो गयी तथा उनके शिष्यों द्वारा उनका प्रचार प्रचुर मात्रा में किया गया। इसी तरह विकसित शैली को घराना कह सकते हैं।[3]

श्री वा. ह. देशपाण्डे के अनुसार– 'घराना' माने निशानी या पहचान के हिसाब से गायकी की विशिष्ट रीति बनाये रखने वाली एक परंपरा है यह कहना

---

१ संगीत कला विहार, १९५८, 'संगीत में घराना' जून, पृ. २५०
२ संगीत, १९६६, जुलाई, 'ग्वालियर घराना', पृ. २५
३ संगीत, १९६६ दिसम्बर, 'ग्वालियर की ख्याल गायन शैली' पृ. ८.

होगा। यानि परंपरा तथा प्रयोगात्मकता के सम्मिश्रण से घराने जड़ पकड़ते और बढ़ते जाते हैं।'[1]

घरानों की महत्वपूर्ण विशेषताओं और तत्वों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुये देशपांडेजी ने कहा है—
(1) 'घराना' घराने की प्रतिष्ठा तभी प्राप्त करता है जब कई पीढ़ियों का सिलसिला लगातार चलता है।
२ घराने की अपनी 'रीति' या अनुशासन होता है। संगीत की भाषा में कहा जाय तो घराने के कुछ कायदे होते हैं।
३ प्रत्येक घराना एक प्रभावशाली गुरु की आवाज़ की प्रकृति पर आधारित होता है।[2]

विद्यादान करने वाले गुरु और प्रतिभाशाली शिष्य होने पर ही 'सम्प्रदाय' अथवा 'घराने' का जन्म होता है। इस प्रकार घराने के बारे में विभिन्न मत प्राप्त होते हैं और इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब एक गायक अपनी गायकी में कुछ स्वतंत्र प्रतिभा और विशेषता तथा अन्य गायकों से भिन्नता लाते हैं और जब वह गायकी अपने पुत्रों और शिष्यों को सिखाने लगता है तो शिष्यगण भी उसी प्रकार की गायकी गाने लगते हैं। कुछ पीढ़ियों तक गायकी की वह परम्परा चलने पर वह एक घराने के नाम से जानी जाने लगती है। उस घराने का नाम उस गुरु के नाम पर या उसके निवास स्थान के नाम पर पड़ जाता था।

अब हमें यह जानना आवश्यक है कि अगर घरानों की शिक्षण प्रणाली गुरु-शिष्य परम्परा पर ही आधारित थी तो इन घरानों की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई? इसका यह अर्थ नहीं कि मध्ययुग से पहले घराने थे ही नहीं, मध्ययुग से पहले सामवैदिक काल से घराने चले आ रहे हैं। बस युग परिवर्तन के साथ उसके स्वरूप में बदलाव आता रहा है।

---

१ 'घरानेदार गायकी', वा. ह. देशपाण्डे, पृ. २८
२ वही " , " " " , पृ. २४

यह सर्वविदित है कि सामवेद में गायन की एक हजार शैलियाँ प्रचलित थीं परंतु वर्षों बाद केवल पंद्रह शाखायें ही रह गयीं प्रचार में। अंतत: जो तीन शाखायें प्रचलित रहीं वे थीं – राणायनी, जैमिनिय, कौथुमी। यह भी एक प्रकार के घराने कहे जा सकते हैं क्योंकी प्रत्येक शाखा का गायन करने वाले गायक अपने विशिष्ट नीयमों का पालन करते थे।

इस प्रकार चाहे इन्हें पद्धति, शैली या गायन शाखायें कहें, एक प्रकार से ये घराने या वर्ग के अनुरूप ही दिखाई देते हैं। वेदों के पश्चात् अनेक जातियाँ या गीतियाँ आदि प्रचलित हुई परंतु उनमें भी विशिष्ट प्रणालियों को गाने वाले विशिष्ट समुदाय ही थे।

इसके पश्चात् हम प्रबंध पर आते हैं। प्रबंध में तीन विभाग थे इनमें से प्रत्येक के अपने उपविभाग थे। प्रबंध विभिन्न जातियों में भी विभक्त थे। इन सभी प्रबंधों का गायन सब नहीं करते थे वरन् अलग-अलग समुदाय अलग-अलग प्रकार के प्रबंध गायन में कुशलता रखते थे।

प्रबंध के पश्चात् ध्रुवपद का आविर्भाव हुआ। ध्रुवपद भी अलग-अलग ढंग से गाया जाने लगा और इसके भी चार विशिष्ट समुदाय बन गये जो कि घरानों का ही एक रूप थे। ध्रुवपद के ये समुदाय बानियों के रूप में खंडार बानी, नौहार बानी, गोबरहार बानी, डागुर बानी के नाम से प्रसिद्ध हुई।

इसी प्रकार ध्रुपद के बाद जब ख्याल आया तो इसमें भी वर्ग बन गये। इसका एक कारण तो यह भी हो सकता है कि ख्याल शैली में गायक को स्वर के विभिन्न प्रयोगों व संगीत अलंकरणों के विविध प्रयोगों की स्वतंत्रता बहुत मिलती है। यह प्रबंध अथवा ध्रुपद की भाँति नीयमों में उतना जकड़ा नहीं होता। गायक अपनी कल्पना शक्ति, भाव प्रदर्शित करने की सामर्थ्य व गले में

चमत्कारिक तानों को प्रदर्शित करने की क्षमता आदि पर ही गायन सफल होना निर्भर करता है। इसलिये प्रत्येक गायक अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उसमें मधुरता, रंजकता व चमत्कारिकता लाने का प्रयत्न करता है। अपने गुरु से जो सीखता है उसके अतिरिक्त उसमें कुछ नयापन लाने का प्रयत्न करता है परंतु फिर भी गुरु की गायन शैली की छाप उसके गायन में मुख्य रूप से उभरती है। इसी स्वतंत्र प्रतिभा को दर्शाने हेतु किसी ने आलाप पर ज़ोर दिया तो किसी ने तान पर किसी ने लयकारी दिखाने की चेष्टा की तो किसी ने स्वर की तरलता को ही महत्व दिया। इसी प्रकार प्रत्येक गायक ने अपनी-अपनी गायकी में निखार लाने का प्रयत्न किया जिनमें कुछ ने वास्तव में बहुत प्रशंसनीय प्रयत्न किया। जब वही गायकियाँ उन गायकों ने अपने शिष्यों को सिखाई तो कुछ पीढ़ी तक चलने के बाद उन्होंने घरानों का रूप ले लिया; परंतु प्रसिद्धि केवल उन्हीं को मिल पायी जिनके गायन में अन्य साधकों की गायन शैली से पर्याप्त भिन्नता होने के कारण उनकी सौन्दर्याविष्कार प्रणाली अंतर रहा। इसी कारण घरानों की संख्या अत्यंत सीमित रही।

प्राचीन गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली में गुरु-शिष्य के संबंधों में जो पवित्रता तथा स्नेह का बंधन था वह धीरे-धीरे घराना-शिक्षा-पद्धति में लुप्त होता गया। शायद यह परिवर्तन युग की सामन्तीय वृत्तियों के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ। प्राचीन भारत में गुरु का जीवन एक सन्यासी के जीवन के समान था, उनमें किसी प्रकार का अहंकार अथवा लोभ नहीं था; अपने कार्य 'विद्यादान' के प्रति उनकी पूर्ण निष्ठा थी। पर घराना शिक्षा पद्धति में जो गुरु हुये उन्होंने आश्रम व्यवस्था से अलग हटकर राजदरबारों में आश्रय पाया और इस आश्रय के फलस्वरूप उनके जीवन में विलासिता का आगमन हुआ। और परिणामस्वरूप उनमें अहंकार, लोभ, संकीर्णता की वृत्तियों का उदय हुआ। जिसके

कारण घराना-शिक्षा-पद्धति में अनेक दोषों का उदय हुआ ये दोष इस प्रकार थे —

(1) शिष्य केवल एक गुरु से सीखने के कारण अन्य शैलियों के ज्ञान से वंचित रह जाता था। घरानेदार शिष्य के लिये किसी दूसरे घराने की गायकी सुनना बिलकुल वर्जित था; क्योंकि हर घराना अपने आपको सर्वश्रेष्ठ समझता था अपने घराने पर दूसरे घराने की छाया भी अछूत मानता था। इस प्रवृत्ति से एक अहंकार का भाव उदय होता था और शिष्य की वैयक्तिक प्रतिभा के विकास में यह अहं भाव बड़ी बाधा डालता था। घराना-शिक्षा पद्धति में उस्तादों ने अपना घराना चलाने के लिये अपनी प्रतिकृतियाँ बनाने का कार्य आरंभ किया था जिससे संगीत का विकास होने के स्थान पर पतन होना प्रारंभ हो गया था। यद्यपि घराना-शिक्षा पद्धति की इन कठिनाईयों और संकीर्णताओं के बीच भी अब्दुल करीम खाँ और अमीर खाँ जैसे कुछ प्रतिभाशाली कलाकारों ने अपने प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास अवश्य किया था।

(2) घराना-शिक्षा-पद्धति में एक बड़ा दोष यह था कि गुरु अपनी आवाज़ के अनुसार जंचने वाले गमक अलंकार आदि का प्रयोग करके तथा रियाज़ द्वारा अपने गले में जो संगीत बिठाता है उसे सौन्दर्ययुक्त रूप से रसीला बनाकर गाता है उसी को सिखाने के लिये अथवा शिष्य के कंठ में उतारने का पूर्ण प्रयत्न करता है। यह प्रयास वर्षों तक चलता है और इसे ही तालीम कहा जाता है। कंठ साधना के माध्यम से आवाज़ को सुरीला बनाया जा सकता है, फिर भी प्रत्येक आवाज़ का गुणधर्म अलग होता है। इसीलिये गुरु को अपनी शिक्षा ढालते समय शिष्य की आवाज़ के धर्म को अच्छी प्रकार समझना चाहिये तथा उस पर चमकने वाली हरकतों को ही अधिक चमकाना

चाहिये इसी प्रकार शिष्य को भी गुरु के कलागुणों को आत्मसात करना चाहिये।[1] घराना शिक्षा पद्धति में इस प्रकार की स्वतंत्रता नहीं होती थी; इसमें शिष्य को पूर्णरूपेण अंधानुकरणत्व की ओर ले जाया जाता था। गुरु अपने घराने की प्रथा के अनुसार ही शिष्य को तालीम दिया करते थे। इस प्रकार की शिक्षा शिष्य की प्रगति को संकुचित कर देती थी।

संगीतोपयोगी अनेक सूक्ष्म बिंदुओं को जानने पर भी शिष्य की व्यक्तिगत रुचि कल्पना तथा प्रकृतिप्रदत्त प्रतिभा अलग ही होगी। अतः उसकी प्रतिभा का प्रयोग भी गुरु से प्राप्त शिक्षा के साथ-साथ होना चाहिये तभी संगीत में वह शिष्य प्रतिभाशाली, गुणी और दक्ष माना जायेगा। गायन कला में कुछ नीयम तथा कुछ हरकतें निस्सन्देह राग को सुन्दर बनाती हैं। कुछ स्वर समुदाय निश्चित रूप से श्रोताओं को प्रभावित करते हैं। लगभग सभी घरानों के गायक उन विशेष हरकतों या मींड, मुर्की, गमक आदि का प्रयोग करते हैं। फिर भी प्रत्येक व्यक्ति के गले में कुछ हरकतें निश्चित रूप से भिन्न होती हैं जिनका प्रयोग खुले रूप से करना चाहिये जिससे उसकी ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा समाप्त न हो बल्कि और उभरकर निखरकर सामने आ सके। अपने स्वभाव, व्यक्तित्व, कल्पना, अनुभव आदि का शिक्षा के साथ समन्वय स्थापित करके गुणयुक्त, सौन्दर्ययुक्त प्रभावोत्पादक संगीत प्रस्तुत करने पर ही कोई गायक एक कुशल व महान गायक बन सकता है; भले ही वह किसी घराने से संबंध रखता हो।

व्यक्ति की कंठध्वनि के विशेष गुणधर्म पर निर्भर करता है कि वह गायन में किन अंगों को प्रधानता दे; मोटी और भारी आवाज़ के लिये गमकदार तान व धीमी तान शोभा देगी जबकि चपल व लचीली तथा कोमल

---

1 'ख्याल शैली का विकास', मधुबाला सक्सेना, पृ. १६३

आवाज़ के लिये तेज़ लय की सपाट तान। संगीत शिक्षार्थी को हर ओर और हर जगह से सीखने का प्रयत्न करना चाहिये। किसी सीमाबंधन में न रहकर प्रत्येक अच्छी चीज़ को गुरु के मार्गदर्शन में सीखना चाहिये व निखारना चाहिये। गुरु को भी केवल अपना घराना चलाने के लिये अपनी प्रतिकृति (कार्बन कापी) बनाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये अन्यथा संगीत का विकास होने के बजाय पतन ही होगा। क्योंकि इस अंधानुकृति के चक्कर में विद्यार्थी की आवाज़ दोषरहित होते हुये भी दोषपूर्ण हो सकती है। देखा जाय तो घराने की सौन्दर्यप्रणाली का संबंध केवल विशिष्ट गायन पद्धति से है।

(3) घराना-शिक्षा-पद्धति में समस्त ज़ोर प्रायोगिक संगीत को दिया जाता था। संगीतज्ञ केवल अच्छे प्रदर्शक हुआ करते थे प्रायोगिक संगीत के नीयमों को पालना वे अच्छी तरह समझते थे। लेकिन शब्दों में उन्हें बताना नहीं आता था कि राग का विस्तार करते समय और बंदिश की रचना करते समय इन नीयमों का पालन क्यों और कहां-कहां करना आवश्यक है। सैद्धांतिक पक्ष की इस उपेक्षा के कारण उस काल का संगीत बहुत अंशों में नष्ट हो गया जो आज बचा है वह गुरु-शिष्य परंपरा द्वारा शिक्षा पद्धति के द्वारा गुरु-शिष्यों के आदान-प्रदान के आधार पर शेष है। इसमें कालक्रम के प्रभावस्वरूप अनेक परिवर्तन हो चुके हैं अतः हम नहीं कह सकते कि आज से चारसौ साल पहले का संगीत कैसा था? इस संबंध में श्री परांजपे जी का मन्तव्य उल्लेखनीय है — 'कला तथा शास्त्र के विरोध की कल्पना कदापि ग्राह्य नहीं हो सकती शास्त्र कला के विपरीत कोई वस्तु नहीं अपितु कला के तरल तत्वों को स्थायित्व और प्रतिष्ठा प्रदान करने का साधन है। कला पुरोगामी होने के कारण देश कालानुसार नवनवीन तत्वों को आत्मसात करती है तथा जीर्ण व पुरातन

संकेतों को दूर कर प्रत्यक्ष जीवन से जीवन तत्व ग्रहण करती है।'[1] अतः कला का स्पष्टीकरण व समर्थन करने का उद्देश्य शास्त्र का होना चाहिये। कला क्योंकि परिवर्तनशील है अतः शास्त्र को भी बदलना पड़ेगा। शास्त्र का अर्थ है बौद्धिक आकलन। परंतु केवल बौद्धिक आकलन से प्रयोग में कुशलता प्राप्त नहीं होती उसके लिये निरंतर साधना की आवश्यकता होती है। बौद्धिक आकलन व साधना का समन्वय आदर्श शिक्षा का अंग है।

(४) संगीत शिक्षा देने की कोई विधि नहीं होती थी। सब कुछ गुरु पर ही निर्भर करता था गीतों के नोटेशन लिखने की कोई प्रणाली नहीं थी। यदि शिष्य गुरु का याद कराया पाठ भूल जाता तो पुनः याद करने का कोई तरीका नहीं था। प्राचीन युग में जबकि शिष्यों की संख्या थोड़ी थी यह पद्धति सफल हो सकी। इस पद्धति द्वारा शिक्षा में कई बार समय का अपव्यय भी होता था।

(५) शिष्य अपनी तरफ से अपने गुरु से कुछ नहीं पूछ सकता था। यहाँ तक कि राग का नाम पूछना तक अपमान समझा जाता था। इस संबंध में डा. सुमति मुटाटकर का कथन है — 'Any inquery from a disciple regarding the name or form of a raga, Asthayi or Antra, was sure an intolerable offence that the question had sometimes to for go all further training in consequence.'[2]

(६) अक्सर उस्ताद अपनी पूरी विद्या शिष्यों को इस डर से नहीं देते थे कि कहीं शिष्य उनसे अधिक

---

1 संगीत १९८६, जुलाई, 'डा. शरच्चंद्र श्रीधर परांजपे', पृ. ४४
2 'Evolution of Indian music' लक्ष्य संगीत, जून पृ. ४

न सीख जायें, वे कोई न कोई महत्वपूर्ण गुर छिपा ही लेते थे। उस्ताद लोग अपने पुत्रों और पौत्रों के साथ के सिवा नाते-रिश्तेदारों तक को अपनी विशिष्ट गायकी के रहस्य सिखाने के लिये किसी भी तरह रज़ामंद नहीं होते थे। उन्होंने तालीम शब्द को तीन विशेषणों से विभूषित कर रखा था। प्रथम साम्प्रदायिक अथवा वंशानुगत रहस्यों को 'खासुलखास (अतिविशिष्ट) तालीम' कहा जाता था, जो केवल संतति के हिस्से की चीज थी। संबंधियों को दी जाने वाली तालीम को 'तालीम' खास कहा जाता था और 'तालीम आम' शिष्यों लिये थी।

'रामपुर के नवाब हैदरअली खाँ ने प्रसिद्ध सुर-सिंगार-वादक उस्ताद बहादुर खाँ के पेट से 'खासुलखास तालीम' को बड़ी मुश्किल से निकालकर लीपीबद्ध किया था। इसके लिये एक ओर तो नवाब साहब ने उस्ताद बहादुर खाँ को लाखों रूपय गुरु दक्षिणा स्वरूप दिये और दूसरी ओर उन्होंने शाही ठाठ-बाट छोड़कर एक आदर्श और विनम्र शिष्य के रूप में वर्षों तक उनकी सेवा सुश्रुषा की अंततोगत्वा उस्ताद प्रसन्न हुये और उन्होंने खुले दिल से नवाब हैदरअली खाँ को 'खासुलखास' तालीम अता फरमाई, बल्कि उन्हें अपना प्रतिरूप ही बना दिया। कहते हैं कि बीन की मिज़राबों के तीन सौ साठ कायदे उस्ताद बहादुर खाँ ने नवाब साहब को एक लाख रूपय लेकर बतलाये थे।'[1]

घराना-शिक्षा-पद्धति में उत्पन्न संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचय यह घटना भी देती है — 'ग्वालियर के प्रसिद्ध विद्वान गायक हस्सू खाँ साहब के तीन दक्षिणी ब्राह्मण शिष्यों में से बाबा दीक्षित सबसे तेज थे, जिससे उनका यश चारों ओर फैलने लगा। हस्सू खाँ के परिवार को यह बात अच्छी नहीं लगी। उन्होंने सोचा इस तरह बाबा दीक्षित के बढ़ने से उनके अपने खानदान के व्यक्तियों का यश बढ़ नहीं सकता। इसलिये

---

1 संगीत १९८२, जनवरी-फरवरी, घराना अंक, खास 'तालीम लोहे के चने--' पृ.८

उन्होंने हस्सू खाँ को बाबा दीक्षित से एक कठोर गुरु दक्षिणा लेने को मजबूर किया। हस्सू खाँ ने जब बाबा दीक्षित को बुलाकर उस कठोर गुरु-दक्षिणा का प्रस्ताव उनके सामने रखा तो बिना किसी हिचकिचाहट के बाबा दीक्षित ने उसे स्वीकार कर लिया और हस्सू खाँ के हाथ पर जल छोड़ते हुये प्रण किया कि, 'केवल मंदिर और घर को छोड़कर, जिंदगी भर महफिल में मैं कभी नहीं गाऊँगा।'[1]

हमारे प्रदर्शन से श्रेष्ठ प्रदर्शन किसी का न हो। राजदरबार में किसी का मान-सम्मान हम से अधिक न हो इन संकुचित और ईर्ष्या वृत्तियों के परिणामस्वरूप ही दूसरे घराने की गायकी न सुनना, रियाज़ छिपाकर किया जाना इन दोषों का प्रादुर्भाव घराना-शिक्षा-पद्धति में प्रारंभ हुआ। प्रो. श्यामसुन्दर मलिक ने घरानों की रूढ़िवादिता के उदाहरण देते हुये जो दृष्टांत दिये हैं वे भी उल्लेखनीय हैं - 'बात उस जमाने की है जब मेरे ताऊजी अपने गाने का रियाज़ अपने खास उस्ताद और चाचा पंडित रामपतेश्वर जी 'मलिक' के निर्देशन में उन्हीं के निवास-स्थान पर किया करते थे। मेरे ताऊजी (संगीताचार्य पंडित रामप्रसाद मलिक, प्रधान राजगायक, पडसौना राज) को उनके उस्ताद और चाचाजी द्वारा यह सख्त आदेश प्राप्त था कि वह अपने गाने का रियाज़ और लोगों से छिपाकर किया करें। उनका हुक्म था - "बेटा रियाज़ छुपाकर किया करो। तुम्हारे रियाज़ की खबर किसी और को नहीं होनी चाहिये। यह तंत्र साधना की तरह है। तंत्र विद्या में रियाज़ को गोपनीय रखने का आदेश दिया गया है।

लेकिन कभी-कभी ऐसा होता था कि जिस समय मेरे ताऊजी रियाज़ कर रहे होते, उसी समय कोई न कोई कलाकार वहाँ आ टपकता था। तब उस्तादजी मेरे ताऊजी से जल्दी से आकर कहते - 'बेटा, पत्ता सरका' उत्तर मिलता - 'उस्तादजी तो बंदा सरका' अर्थात् उस्तादजी ताऊजी को

---

१ संगीत १९६६, अक्टूबर, 'हिन्दुस्तानी संगीत में गुरु शिष्य परम्परा', पृ.१०

रियाज़ बंद करने का हुक्म देते और ताऊजी अपना रियाज़ बंद करके तुरंत वहाँ से उठ जाते।"[1]

धरानेदार कलाकारों की रूढ़िवादिता और संकीर्णता इस कदर बढ़ गयी थी कि उनमें कहावत बन गयी थी कि — 'हम तो एक बार कर्बले पर ही अपना प्रदर्शन करते हैं।' 'कर्बला' वह स्थान होता है जहाँ मुहर्रम के दिन ताज़िये का मेला लगता है। यहाँ के इस मेले में हिन्दू-मुसलमान सभी सोल्लास शरीक होते थे। इसमें विभिन्न कलाकार इस अवसर पर शरीक होकर इसमें तमाम खेलों (गदका, बनेठी, ढाक, ताशा) को कलात्मक ढंग से खेला करते थे। इनकी तैय्यारी भले ही कई दिनों से की जाती थी पर प्रदर्शन केवल एक बार ही होता था। धीरे-धीरे उपरोक्त कहावत रूढ़ि हो गयी। आश्चर्य यह है कि कलाकार लोग भी अपना संगीत प्रदर्शन कभी मौका पड़ने पर राजा या बादशाह के हुक्म से करते थे और रियाज़ छिपाकर, इतना छिपाकर कि उनका पड़ोसी भी इस भेद से वाकिफ़ नहीं हो पाता था कि कलाकार महोदय ने रियाज़ कब किया। इस संकीर्णता और रूढ़िवादिता के कारण इस विधा के गुर क्रमशः लुप्त होने लगे।

इसके अतिरिक्त इन गंडाबंद शागिर्दों को उस्ताद के निम्नकोटि के सभी कार्य करने पड़ते थे और जब इनसे छुट्टी मिलती थी और उस्तादजी का मूड़ होता था तब थोड़ी सी तालीम इन शिष्यों को मिल जाती थी। इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं जबकि तालीम देने के लिये उस्तादजी का मूड महीनों नहीं बनता था। इसके अनेक उदाहरण हैं —

पहले सालभर दिल लगाकर गुरु सेवा करने पर भी मुराद को बंदेअली खाँ साहब ने तालीम नहीं दी।

निसार हुसैन खाँ ने बड़े बुआ को चार वर्षों में अधिक से अधिक आठ चीजें सिखायी।

---

१ संगीत १९८२, जनवरी-फरवरी, घराना अंक 'घरानों की रूढ़िवादिता', पृ. ३९

बाबा आलाउद्दीन ने अहमदअली का सरोद सुनकर उनसे गंडा बंधवाया और अत्यन्त लगन से उनकी सेवा की पर फिर भी खाँ साहब ने उन्हें कुछ नहीं सिखाया। बल्कि अपनी प्रतिभा के बल पर बाबा उस्ताद का वादन सुनकर जो बजाते थे, उसे सुनकर उन्होंने बाबा से स्पष्ट कर दिया, तुम विद्या सीखते नहीं खाते हो मैं किसी भी राग को बजा दूं तुम उसे निगल जाते हो। मैं तुम्हें कुछ नहीं सिखाऊँगा।[1]

इसके पश्चात् उन्होंने अनेक कठिनाईयों के बाद उस्ताद वज़ीर खाँ का गंडा बाँधा। ३ वर्ष तक उस्ताद ने उन्हें कुछ नहीं सिखाया। फिर किसी कारणवश हृदयपरिवर्तन होने पर बाद के पाँच सालों तक उन्हें अच्छे से सिखाया।[२]

पुराने उस्तादों की संकीर्णता और स्वभावगत वैचित्र्य के कारण हम कह सकते हैं कि मध्यकाल के गुणी उस्तादों से संगीत की तालीम लेना लोहे के चने चबाने से कम कठिन कार्य नहीं था। शायद उस्तादों में यह स्वभावगत वैचित्र्य राजा-महाराजाओं और बादशाहों के सम्पर्क में रहने के कारण ही उत्पन्न हुआ होगा। इस स्वभावगत विचित्रता के भी अनेक उदाहरण हमें देखने को मिलते हैं — 'ग्वालियर घराने के प्रसिद्ध गायक उस्ताद बन्ने खाँ के साथ भी एक विचित्र वाकया गुज़रा। हद्दू-हस्सू खाँ उन्हें किसी भी क़ीमत पर संगीत की तालीम देने को राज़ी नहीं थे, किन्तु उन्होंने पीछा नहीं छोड़ा। ग्वालियर की बात है; भयानक गर्मी पड़ रही थी। बैलगाड़ी में बैठकर हद्दू-हस्सू खाँ तानसेन समाधि-उत्सव में भाग लेने जा रहे थे। रास्ते में गर्मी से घबराकर एक बैल का प्राणांत हो गया। उस निर्जन स्थान पर दूसरे बैल का मिलना असंभव ही था। अब गाड़ी कैसे चले? उस्ताद चिन्ता में डूब गये। तब बन्ने खाँ ने स्वयं गाड़ी में लगकर उस बैल की पूर्ति की और गाड़ी खींचकर उस्तादों को मन्तव्य

---

१ संगीत कला विहार, १९८२, अक्टूबर 'खाँ साहब अलादिया खाँ मैहर', पृ. ४२२
२ वही " " , " , " , " " " " " पृ. ४२४

स्थान तक पहुँचा दिया। इस घटना के बाद हद्दू-हस्सू खाँ अत्यन्त प्रसन्न हुये और उन्होंने बन्ने खाँ को अपने घराने की खास तालीम देकर उत्कृष्ट गायक बना दिया।'[1]

इसी प्रकार प्रसिद्ध गायक विष्णुपंत छत्रे के साथ एक घटना घटी। छत्रे भी हद्दू खाँ की गायकी पर फिदा थे। एक बार हद्दू खाँ नाव में मथुरा से गोकुल की ओर जा रहे थे। यमुना जी उन दिनों काफी चढ़ी थीं थोड़ी दूर चलकर नाव मल्लाह के काबू से बाहर हो गयी नाव में सवार व्यक्ति घबराने लगे और नाव बेसहारा बहने लगी। इस मौत की घड़ी में विष्णुपंत छत्रे तुरंत ही अपने कपड़े उतारकर जल में कूद पड़े और साहस करके मल्लाह से नाव की रस्सी फेंक देने के लिये कहा; रस्सी फेंक दी गयी। श्री छत्रे ने रस्सी का सिरा मुँह में दबा लिया और नदी की धार काटते हुये बड़ी दूर जाकर नाव को किनारे लगाने में सफल हो गये। अत्यंत परिश्रम के कारण श्री छत्रे वहीं बेहोश होकर गिर पड़े। जब उन्हें होश आया तो उस्ताद हद्दू खाँ ने बड़े प्रेम से उनके सिर पर हाथ फेरते हुये कहा — 'पंडित तूने बड़ी बहादुरी से हमारी जान बचायी है। मैं अपने घराने की खास गायकी केवल तुझको ही दूँगा।'[2] क्या शागिर्दी की ये सेवायें किसी प्रकार के लोहे के चने चबाने से कम थीं?

किसी तरह यदि गुरु को तालीम देने के लिये राजी कर भी लिया जाय तो उसके बाद जो मंजिल थी वह भी कोई कम कष्ट साध्य नहीं थी। शिष्य को हर प्रकार से गुरु की सेवा में रहना होता था। उसके बाद भी कई क्रोधी स्वभाव के उस्तादों को प्रसन्न करना कष्टकर कार्य था वे कब लहर में आकर सिखाना छोड़ दें इसका पता न था — 'रामकृष्ण बुआ वझे ने ग्वालियर में रहते हुये अनेकों लोगों के पास सीखने का प्रयत्न किया। फिर भी उनकी श्रद्धा केवल

---

१ संगीत, १९८२ जनवरी-फरवरी, 'खास तालीम लोहे के चने चबाना' पृ. ८
२ वही पृ. ८

निसार हुसैन खाँ पर थी उन्होंने लिखा है, "कभी-कभी खाँ साहब लहर में आकर गर्म स्वभाव की आदत के अनुसार कह बैठते थे", "यहाँ से निकल जाओ तेरे बाप के हम कुछ नौकर हैं।" परंतु मैं गायन सीखने का संकल्प कर चुका था अतः, "मैं गायन सीखे बगैर नहीं जाऊँगा।" ऐसा उनसे कह देता। खाँ साहब के प्रसन्न रहने के लिये मैं प्रतिदिन उनका घर झाड़ता, पानी भरता तथा बाजार से माँस भी लाकर देता था। किन्तु उनके पास चार वर्ष रहकर भी, ज्यों-त्यों उन्होंने केवल पाँच चीजें मुझे सिखाई।[1]

गुंडुबुआ इंगले का बालकृष्ण बुआ से गाना सीखते समय दैनिक कार्यक्रम इस प्रकार था बिलकुल सबेरे उठकर गुरु-गृह की सफाई धुलाई करना और पानी भरना इत्यादि सब कार्य करने के बाद स्नान तथा गुरु के लिये भोजन तैयार करना, तब फिर स्वयं भिक्षा माँगकर अपना पेट भरना। दोपहर में गुरु-गृह के अन्य कार्य करना और इस सब के पश्चात् जितना संभव हो गुरु सान्निध्य प्राप्त कर जो मिल जाय सीख लेना। इतना करने पर भी वे बालकृष्ण बुआ की पत्नी का कोपभाजन ही बने रहते थे। और अंत तक भी उन्हें प्रसन्न न कर सके।'[2]

'भीमसेन के पिता श्री गुरुनाथ जोशी ने कुंदगोळ में सवाई गंधर्वजी (रामभाऊ) के पास भीमसेन के रहने तथा शिक्षा का प्रबंध किया कुछ दिनों के पश्चात वे ये देखने के लिये कुंदगोल गये कि प्रगति कहाँ तक हुई है। भीमसेन पानी भर रहे थे। सामने दो घड़े थे; आँखें लाल थीं पीठ पेट एक हो रहे थे, हड्डियाँ निकल आई थीं, साँस जोर-जोर से चल रही थी। उनके पूछने पर उसने कहा बुखार आया था। यह सुनकर उनके पिता को क्रोध

---

1 संगीत कला विहार, १९४९ मई, 'पं रामकृष्ण बुआ वझे' पृ. 26

2 संगीत कला विहार, १९४९ सितम्बर, 'गायनाचार्य गुंडुबुआ इंगले', पृ.6

आया। उन्होंने गंधर्व जी से पूछा कुम्हार में भी आप उसे पानी भरने को कहते हैं। इस पर गंधर्वजी ने उत्तर दिया, –'मुझे जो ठीक लगता है वही मैं करता हूं। आपको पसंद न हो तो आप अपने बेटे को ले जा सकते हैं।'"[1]

घराना परंपरा की शिक्षा के संबंध में पंडित श्यामदास मिश्रा अपने अनुभव इस प्रकार लिखते हैं- 'मैं जब गुरु-गृह में संगीत की शिक्षा ग्रहण कर रहा था, तो प्रातः तीन बजे उठकर गुरु के पायताने केवल तानपूरा छेड़ता था। गुरुजी के उठने के बाद नित्यक्रिया, अभ्यास, पूरे घर की सफाई, फुलवारी में कुदाल लेकर घंटे बागवानी, गुरु के वस्त्र धोना, फिर दिन के दो बजे भोजन, फिर गुरु के साथ विश्वविधालय जाना। शाम को लौटकर आने के बाद पुनः घर की सफाई, सेवा अभ्यास और रात्रि पुनः तानपूरा छेड़ने की ड्यूटी इसी बीच यदा-कदा गुरुजी का मूड बना तो कुछ गवाया, कभी खूब गवाया- और जो गवाया गला से गला गवाया लिखकर नहीं। कभी-कभी तो सम्पूर्ण रात्रि ही अभ्यास की रात्रि बन गयी; कब सुबह हुई पता ही न चला। उस दिन हम सभी गुरु भाई बड़े खुश होते थे कि जी भरकर आज गुरु प्रसाद मिला। बारह वर्ष की अल्पायु में चौबीस घंटों के बीच एक समय भोजन; बीच में न कोई नाश्ता, न और कुछ कठिन तपस्या। न घर की याद न बचपन के मित्रों की।'[2]

उस्तादों की कठोर और संकीर्ण प्रवृत्ति के कारण घराना-शिक्षा-पद्धति का लोप हो गया। इस शिक्षा पद्धति के लुप्त होने का कारण संस्थागत-शिक्षा-पद्धति का प्रसार भी है। यधपि घराना-शिक्षा-पद्धति में कई दोष थे परंतु इसके द्वारा जिन्होंने भी शिक्षा पाई उनकी शिक्षा

---

१ संगीत कला विहार, १९६३ जुलाई, पृ. ४५

२ संगीत १९८५, सितम्बर, 'गुरु शिष्य परंपरा' पृ. 36

पूर्णतः ठोस थी। घराना-शिक्षा-परंपरा ने अनेक उच्चकोटि के कलाकार संगीत जगत को दिये।

संस्थागत-शिक्षा-पद्धति द्वारा संगीत शिक्षा के कारण आधुनिक युग में शास्त्रीय संगीत का शिक्षण और प्रसार-प्रचार बहुत व्यापक हो गया है। आज शास्त्रीय संगीत के जितने समारोह आयोजित किये जा रहे हैं, जितने विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों और संगीत संस्थाओं में संगीत शिक्षा दी जा रही है, सम्पूर्ण इतिहास में ऐसी देखने को नहीं मिलती। लेकिन इतने पर भी ये शिक्षण संस्थायें अच्छे व प्रभावशाली मंचीय कलाकारों की जन्मभूमि नहीं बन पा रही हैं। यदि कोई प्रतिभा इनमें विकास कर भी जाती है तो भी उसका स्तर मध्यम कोटि के कलाकारों से ऊपर नहीं उठ पाता। यद्यपि ऐसे भी कुछ प्रतिभाशाली और लोकप्रिय कलाकार हैं जिन्होंने संगीत की शिक्षा प्राइवेट संस्थाओं या विश्वविद्यालयों में पाई है; परंतु वहाँ से उन्हें केवल डिग्री ही हस्तगत हो पाई है। संगीत की सच्ची तालीम के लिये उन्हें भी व्यक्तिगत रूप से योग्य गुरु के प्रति समर्पित होना पड़ा है। उनके भीतर बैठा कलाकार इसी परंपरागत ढंग की तालीम का ऋणी है।

घरानेदार-शिक्षा-पद्धति के दोषों को दूर करने के लिये संस्थागत-शिक्षा-पद्धति की शुरुआत की गयी पर वे दोष तो दूर न हो पाये अपितु घरानेदार-शिक्षा-पद्धति के लोप के कारण अनेक हानियाँ ही नज़र आ रही हैं। संस्थागत-शिक्षा-पद्धति द्वारा शिक्षा प्राप्त डिग्रीधारियों का संगीत के क्षेत्र में आज एक स्तर भी नहीं बन पा रहा है। आज संगीत शिक्षा की इस स्थिति ने सभी संगीत जगत के विद्वानों और कलाकारों को चिन्ता की स्थिति में डाल रखा है। पंडित जोतीन भट्टाचार्य के अनुसार — "आज जीवन के मध्याह्न में समस्त कलाकारों और संगीत शिक्षण संस्थाओं

से यह आग्रह करना चाहता हूँ कि नये सिरे से सोचें, नये दृष्टिकोण को अपनायें, नई पद्धतियाँ लागू करें अन्यथा अवश्य ही संगीत की चिन्मयी प्रतिमा खंडित होने का भय है। यद्यपि देर तो हो चुकी है पर अभी सर्वनाश नहीं हुआ है।"[1] सभी संगीतज्ञों का मत यह है कि संस्थागत शिक्षा पद्धति और गुरुकुलीन शिक्षा पद्धति का समन्वय करके ही वर्तमान परिस्थितियों में शास्त्रीय संगीत को बचाया जा सकता है। सभी ने एक मत से शास्त्रीय संगीत की शिक्षा के लिये गुरु-शिष्य-परंपरा द्वारा संगीत शिक्षा को ही श्रेष्ठ माना है और एक स्तर पर संस्थागत-शिक्षा-पद्धति के साथ इस शिक्षा पद्धति का समन्वय नितांत आवश्यक है।

शंकर नारायणराव पंडित — "गुरु शिष्य परंपरा से ही संगीत समृद्ध किया जा सकता है व इसके द्वारा ही यह जीवित भी है।"[2]

उस्ताद फैय्याज़ खाँ —

'संगीत की अवनति के कारण बतलाते हुये फैय्याज़ खाँ साहब ने कहा कि सीना ब सीना सीखने का चलन कम होता जा रहा है। और सीखने वाले नोटेशनों पर निर्भर रहकर संगीत सीख लेना चाहते हैं। लोग भूल जाते हैं कि इस विधा में पारंगत होने के लिये कितनी लगन साधना की जरूरत है।'[3]

---

१ संगीत १९८६, जनवरी-फरवरी, पृ. ६३, 'ताज' खतरे में है'
२ वही, १९८६, " —" , पृ. ६८, 'संगीत परीक्षायें: संगीत के प्रचार —'
३ संगीत, १९८५, जुलाई, पृ. २८२ 'उस्ताद फैय्याज़ खाँ से एक भेंट'

खाँ साहब अब्दुल करीम खाँ – "खाँ साहब के अनुसार हिन्दुस्तानी संगीत गुरुमुख से सीखने पर ही उत्तम होता है।"[1]

खाँ साहब बड़े गुलामअली खाँ –

खाँ साहब से पूछे जाने पर कि, "क्या मौसिकी की तालीम का यह स्कूली ढंग कामयाब होगा?" खाँ साहब का उत्तर था – "आपको शक क्यों है? घरानेदार होशियार तालीम देने वालों की मौजूदगी में क्यों ऐसा मुमकिन नहीं है। पंडित विष्णू दिगम्बर के गांधर्व मण्डल ने नारायणराव व्यास, विनायकराव पटवर्धन, डी. वी. पलुस्कर जैसे कलाकारों को हमें दिया है।

अब बदलते ज़माने के साथ तालीम का ढंग बदलना चाहिये। दो-चार दर्ज़ों तक तो सभी सीख सकते हैं पर बाद में चुने हुये लायक सीखने वालों को गाने-बजाने की असली तालीम देना चाहिये जिससे वे सच्चे मानी में 'इल्मे मौसिकी' के फनकार बन सकें।[2]

विनायकराव पटवर्धनजी–

"गुरु-मुख से सुनकर सीखने से अधिक उत्तम कोई पद्धति नहीं है, सच्चा गायन शिक्षण वही है। स्वर-लेखन का प्रयोग आज गाना सीखने में बहुत हो रहा है; फिर भी गुरुमुख की तो बात ही अलग है।"[3]

---

1 'संगीताचे मानकरी', एकलव्य, पृ. ९५

2 'संगीत साधकों से भेंट', संगीत १९६२, मार्च, पृ. ५२

3 'संगीत साधकों से भेंट', ––, संगीत १९५१, अगस्त, पृ.62

राजाभैय्या पूंछवाले –

"विधमान काल में विधालयों में संगीत का शिक्षण स्वर लीपी से देने का प्रचार सर्वाधिक है। एसे विधालय की गायन-वादन की कक्षाओं में से होनहार विद्यार्थियों का चुनाव करके उनके लिये एक नई संस्था विधमान सरकार से स्थापन कराने का प्रयत्न हो। इस संस्था में सदरहू छात्रों का खाने-पीने का प्रबंध सरकार से होकर, विधमान के अच्छे और अनुभवी कलाकारों को आश्रय देकर इन छात्रों को कम से कम ५-६ वर्षों तक गायन-वादन का शिक्षण इन कलाकारों से देने का प्रबंध सरकार को करना चाहिये।" १

गंगूबाई हंगल –

"कॉलेज, विश्वविधालय की संगीत परीक्षायें पास कर लेने से उपाधियाँ तो मिल जाती हैं, पर उनसे गवैय्या नहीं बनता। गवैय्या बनने के लिये यह आवश्यक है कि वह गुरु के सान्निध्य में रहे, उनके चिन्तन के साथ एकरूप होकर निष्ठा के साथ शिक्षा ग्रहण करें।

जो गायक गुरु-शिष्य-परंपरा द्वारा प्राप्त हुये थे वे आज शेष हैं। नये कलाकार तभी उभर सकते हैं जब वे अच्छे कलाकारों का सानिन्ध्य प्राप्त करें, गायकी के नये-नये बढ़त के रास्ते सीखें।" २

बिस्मिल्लाह खाँ –

संगीत स्कूलों के संबंध में आपकी राय पूछे जाने पर आपने उत्तर दिया – "हाँ! अगर

---

१ 'साक्षात्कार', १९५० संगीत कला विहार, अंक २, पृ. २६
२ श्रीमती गंगूबाई हंगल, संगीत १९८६; परीक्षा अंक जनवरी-फरवरी, पृ.२२

आपको सिर्फ डिग्री लेना है तो, ठीक है ऐसे स्कूलों में जाकर पढ़िये। परंतु यदि गाना बजाना सीखना है तो आपको किसी उस्ताद के पास जाना होगा।"१

विलायत हुसैन खाँ –

"जहाँ तक तालीम का सवाल है मैं समझता हूँ कि जो महज डिग्री के लिये पढ़ रहे हैं पढ़ें। जिन्हें इल्मे मौसिकी में कामयाब जानकारी हासिल करने की ख्वाहिश है उन्हें सरकार चुने वज़ीफे दे और गाने-बजाने वालों को काफी रुपया दे जिसमें वे अपनी गुज़र-बसर कर सकें। मुझे खुद ऐसा मौका मिला तो मैं वादा करता हूँ कि हर पाँच साल बाद मैं दो-तीन ऐसे शागिर्द निकालता जिनका बजाना सुनकर सुनने वालों को भी मज़ा आ जाता।"२

श्री बी. आर. देवधर –

"परीक्षा देकर कोई गवैय्या नहीं बनता। उसके लिये तो गुरु के सान्निध्य में रहकर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है।"३

श्रीमती सुमति मुटाटकर – "समय के अनुसार हमारे संगीत की शिक्षण प्रणाली में तथा उसके रूप में आवश्यकतानुसार परिवर्तन नहीं किये गये हैं। संगीत की शिक्षा के लिये यह आवश्यक है कि गुरु प्रत्येक छात्र पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान दे।"४ 'शास्त्रीय संगीत पर घराना-शिक्षा-

---

१ 'संगीत साधकों से भेंट', संगीत १९५३, फरवरी, पृ. २१९
२ 'संगीत साधकों से भेंट, संगीत १९३९, जुलाई, पृ. ४१
३ 'तानसेन तो बनते ही हैं'। – – – – –, संगीत, १९८६ जनवरी, पृ.१९
४ 'संगीत साधकों से भेंट', संगीत १९५६, अप्रैल, पृ. ५३

पद्धति के टूटने का यह प्रभाव पड़ा है कि आज विद्यार्थी की बुनियाद ठोस नहीं हो पाती, जब बुनियाद ही नहीं बनेगी तो उसमें नवीनता को ग्रहण करने की क्षमता भी उत्पन्न नहीं होगी। आज भी घराना शिक्षा- पद्धति की संकीर्णता को यदि छोड़ दिया जाय; फिर भी घरानेदार- शिक्षा विद्यार्थी को उस स्तर तक देनी आवश्यक है जब तक कि वह अच्छा या बुरा समझने की शक्ति, अपनी प्रकृति के अनुरूप ग्रहण- शक्ति की योग्यता विकसित न कर ले

गुरुकुल - शिक्षा - पद्धति के साथ संस्थागत- शिक्षा - पद्धति का समन्वय करके अवश्य संस्थागत-शिक्षा- पद्धति की उपयुक्तता बढ़ाई जा सकती है। आज की परिस्थितियों में एम. ए. के बाद प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को उचित छात्रवृत्ति देकर, गुरुकुल - शिक्षा- पद्धति के अनुरूप कुछ शिक्षण संस्थायें बनाकर उनमें ५ वर्ष की अवधि के लिये रख देना चाहिये। यह प्रयास कलाकार उत्पन्न करने की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी होगा। इतना ही नहीं ही नहीं वरन् संस्थागत - शिक्षा और शास्त्रोक्त ज्ञान की पृष्ठभूमि पर गुरु-कुल- शिक्षा और भी अधिक प्रभावी और विशाल दृष्टिकोण लिये हुये होगी।[1]

पंडित व्ही. जी. जोग —

"कलाकारों के निर्माण की दृष्टि से देखा जाय तो आज की संगीत शिक्षा पद्धति बिलकुल बेकार है। उसके लिये आज गुरु - कुल- शिक्षा पद्धति की आवश्यकता है, पूर्णत्व इसी प्रणाली से आयेगा।"[2]

---

१ प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा साभार प्राप्त, दिल्ली, २३.२.८८

२ पं. वी.जी. जोग साक्षात्कार १९६३, संगीत कला विहार, सितम्बर, पृ.४०२

घरानेदार-शिक्षा-पद्धति के जो गुण हैं उनके आधार पर आज भी संगीत जगत के प्रकाण्ड विद्वान, संगीतज्ञ, और कलाकार इस बात से एकमत से सहमत हैं कि आज संगीत शिक्षा के गिरते हुये स्तर को उठाने के लिये और भविष्य के उत्तराधिकारी कलाकारों को उत्पन्न करने और शास्त्रीय संगीत को नवजीवन तथा समृद्धि प्रदान करने के लिये घराना-शिक्षा-पद्धति द्वारा संगीत-शिक्षा प्रदान किये जाने की नितान्त आवश्यकता है। इसके बिना इस क्षेत्र में सुधार लाना संभव नहीं है; घरानेदार संगीत-शिक्षा द्वारा संगीत जगत में ठोस क्रांति लाई जा सकती है। गुरु-कुल-शिक्षा पद्धति में अनेक उपयोगी मनोवैज्ञानिक तत्व कार्य करते हैं जो आज भी संगीत-शिक्षा के लिये उपयोगी हैं। ये तत्व इस प्रकार हैं—

1 शिष्यों का चुनाव —

इस पद्धति में शिष्य खरे सोने जैसे निकलते थे चाहे इस प्रणाली द्वारा शिक्षा में समय अवश्य अधिक लगता था। इसका कारण यह था कि गुरु-शिष्य-परंपरा में ऐसे चुने हुये व्यक्ति ही संगीत सीखते थे, जिनमें संगीत सीखने की प्रतिभा, योग्यता और आकर्षण होता था। विद्यार्थियों की यह प्रारंभिक परीक्षा अत्यंत कठोर होती थी। यहाँ तक कि कई सालों विद्यार्थी को कभी-कभी गुरु की सेवा करते रहने पर भी एक अक्षर भी सीखने को नहीं मिलता था। जब गुरु पूर्णतः संतुष्ट हो जाते थे कि विद्यार्थी में संगीत शिक्षा की सच्ची लगन है, वह शिक्षा-प्राप्ति के लिये कैसा भी संघर्ष करने को तैय्यार है तब ही वे शिष्य को सिखाने के लिये राज़ी होते थे। इस तरह केवल उन्हीं चुने हुये शिष्यों को संगीत-शिक्षा दी जाती थी जिनके सामने कलाकार बनने का लक्ष्य होता था; उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये वे गुरु पर श्रद्धा रखकर परिश्रम और

साधना किया करते थे। दिन-रात साथ रहने से संगीत के संस्कार पुष्ट होते थे। इस कारण दोनों ओर से किये जाने वाले परिश्रम के अनुपात में परिणाम कहीं अधिक प्राप्त होता था। इस पद्धति में न परीक्षा-प्रणाली थी, न उपाधियाँ न विशेष साधन और सुविधायें; कम खर्चीली और फिर भी अधिक प्रभावशाली इस शिक्षा पद्धति में शिष्य कलाकार बनकर निकलता ही था। आज की शिक्षा-प्रणाली सारे साधन सुविधाओं से लैस और अधिक वैज्ञानिक मानी जाती है, फिर भी कलाकार तैयार नहीं होते। यहाँ तक कि छात्रों के अनुपात में अच्छे शिक्षक भी तैय्यार नहीं होते। इसके पीछे इस कारण का बहुत बड़ा हाथ है कि स्कूल, महाविद्यालय और विश्वविद्यालयों में सभी विद्यार्थी संगीत सीख सकते हैं। इनमें प्रवेश परीक्षा का कोई नीयम नहीं है यदि कहीं है भी तो उसका पालन कितनी सच्चाई से होता है इसका कोई प्रमाण नहीं है। अतः प्रवेश लेने वाले इन विद्यार्थियों में कोई प्रतिभा नहीं होती, अधिकांश में संगीत के आवश्यक संस्कार भी नहीं होते, न रुचि होती है न सामान्य बौद्धिक स्तर ही, न संगीत सीखने का कोई लक्ष्य ही होता है। वे इस विषय का चुनाव इसलिये करते हैं कि या तो अन्य विषयों में प्रवेश नहीं मिल पाता या यह सोचते हैं कि इसमें कम पढ़ना पड़ता है फिर भी पास हो जाते हैं। और ऐसे विद्यार्थियों के बीच जो दो-तीन सुरीले विद्यार्थी होते हैं उन्हें भी न्याय नहीं मिल पाता।

२ साधना की कठिनता के चरणों के प्रति आकर्षण—

प्राचीन परंपरा के गुरुओं में ज्ञान की कमी नहीं थी और न ही उनमें कठिन चीजों को सिखाने का ही अभाव था। क्योंकि उन्होंने खुद शिक्षा

इन्हीं चरणों को पार करके प्राप्त की थी जिसके कारण उनमें उन चरणों को पार कराते हुये शिष्य को शिक्षा देने का पूर्ण धैर्य था। आज विद्यालयीन शिक्षा प्राप्त किये शिक्षकों को स्वयं साधना के उन चरणों को पार नहीं करना पड़ा तब वे शिष्य को कैसे साधना पद्धति द्वारा शिक्षा दे सकते हैं।

३ शिष्य का व्यक्तिगत निरीक्षण संभव –

घरानेदार-शिक्षा-प्रणाली में शिष्य की सारी कमियाँ और गुण पूर्णरूप से गुरु के सामने होते थे। जो कमियाँ होतीं थीं उन्हें पर्याप्त समय देकर गुरु अपने निरीक्षण में ही उन्हें ठीक करवाता था क्योंकि इतना समय होता था। आज की तरह पाठ्यक्रम साल में पूरा करने की जल्दी नहीं रहती थी। शिष्यों की संख्या कम होने के कारण प्रत्येक पर गुरु व्यक्तिगत रूप से ध्यान दे पाता था। अलग-अलग प्रत्येक शिष्य को उसके बौद्धिक स्तर और ग्रहण शक्ति के आधार पर शिक्षा दे सकता था। आज शिष्यों की संख्या प्रत्येक कक्षा में अधिक होने के कारण तथा पाठ्यक्रम की अधिकता और समय की सीमितता के कारण प्रत्येक शिष्य पर शिक्षक का व्यक्तिगत रूप से ध्यान दे पाना असंभव ही है।

४ रियाज़ का अधिकता से होना –

शार्गिदों का अभ्यास इस प्रणाली में खूब होता था। कई सालों तक केवल अलंकारों की शिक्षा, स्वर भरना तथा एक ही राग की शिक्षा दी जाती थी। क्योंकि इस शिक्षा-पद्धति का सिद्धांत यही था कि, 'एक साधै सब सधै सब साधे सब जाय।' इस पद्धति द्वारा शिक्षा से शिष्यों को अपने

विषय में पूर्ण अधिकार हो जाता था। उन्हें जो भी पाठ मिलता था वह पूर्णतः मंज जाता था। उसके बिना आगे का पाठ गुरु शिष्य को देते ही नहीं थे।

५ अनुशासन की भावना का विकास —

घरानेदार-शिक्षा-पद्धति के कारण शिष्यों में श्रद्धा और अनुशासन अच्छा रहता था। उस समय संगीत शिक्षा इतनी सुलभ न होने के कारण शिष्य भी शिक्षा-पद्धति की कठोरता और अनुशासन का पालन पूर्णतः करते थे। यदि गुरु ने कहा कि अमुक पलटे को एक हजार बार करो तो क्या मजाल जो शिष्य उसे नौ सौ निन्यानवे के बाद छोड़ने की हिमाकत करे। आज संस्थागत-शिक्षा-पद्धति में संगीत-शिक्षा की सर्वजनसुलभता के कारण अनुशासन का वह स्तर तो दूर रहा साधारण अनुशासन भी देखने को नहीं मिलता। संगीत कक्षाओं में आना न आना पूर्णतः विद्यार्थी की मर्ज़ी पर निर्भर करता है।

६ सांगीतिक संस्कारों का निर्माण —

संगीत के संस्कार विद्यार्थी में गुरुकुलीन-शिक्षा-पद्धति में ठोस पड़ते थे। क्योंकि इस परंपरा से शिक्षा में विद्यार्थी को एक अनुकूल सांगीतिक वातावरण मिलता था। प्रारंभ में शिक्षार्थी को केवल कुछ सरगम पलटे रटने का काम देकर बाकी समय तानपूरा छेड़ते हुये गुरु का गायन सुनना होता था। इसके अतिरिक्त गुरु-बंधुओं की तालीम और रियाज़ सुनने के अवसर भी गुरु-गृह में रहने के कारण हर समय ही उपलब्ध रहते थे। कभी-कभी तो यह सुनने की तालीम पाँच-छः वर्षों तक चला करती थी। इसके अतिरिक्त शिष्यों को गुरु के साथ प्रत्येक जलसे में जाना अनिवार्य था जिससे अनेक

विद्वानों का गायन अथवा वादन भी वे सुनते थे। इस संगीतमय वातावरण के कारण शिक्षार्थी के मस्तिष्क में संगीत के संस्कार पूर्ण रूप से संचित हो जाते थे। जो कि भविष्य में शिक्षा ग्रहण करते हुये काम में आते थे। इससे सीखने की कठिनाइयाँ कम हो जाती थीं।

6 मंच प्रदर्शन के भय की समाप्ति –

मंच प्रदर्शन का भय प्रायः शिक्षा-ग्रहण करने के काल में ही विद्यार्थियों के मन से निकल जाता था। गुरु अपने साथ अच्छी-अच्छी महफिलों में शिष्यों को ले जाते थे। और उनका सामान्य परिचय श्रोताओं को देते थे। बहुधा तैय्यार विद्यार्थियों से गुरु या तो अपने साथ संगति करवाते थे या फिर उनका छोटा कार्यक्रम पृथक करवाते थे। प्रदर्शन शिष्य गुरु की आज्ञा के बिना नहीं कर सकता था। इन प्रयासों से प्रारंभ से ही शिष्य के मन से मंच-प्रदर्शन के प्रति भय की भावना दूर हो जाती थी।

(स) साधना का अभाव —

स्वामी हरिदास अथवा बैजूबावरा जैसे महान् गायकों की चमत्कारिक सिद्धियों के विषय में कुछ पढ़ने या सुनने पर हम दाँतों तले उँगली दबाते हैं - उनमें कौन सी ऐसी शक्ति थी, कैसी विलक्षण साधना थी कि वे अपने संगीत के द्वारा ऐन्द्रजालिक चमत्कार दिखलाने में समर्थ हो पाते थे। मेघ राग से वर्षा तथा दीपक राग से दीप जलने संभव थे, पत्थर पिघलाने वाली घटना, संगीत श्रवण से हरिणों के खिंचे चले आने की घटना; क्या वास्तव में वे ऐसी शक्ति रखते थे? अथवा ये सब केवल किवंदतियाँ ही हैं? यह शंका आम लोगों के मन में तो क्या स्वयं संगीत प्रेमियों के मन में भी उठती है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तव में ये बातें संभव नहीं हैं; अवश्य ही इन्हें बहुत बढ़ा-चढ़ाकर वर्णित किया गया है।

इस प्रकार अपनी भ्रांत धारणाओं के कारण हम स्वयं अपनी अभ्यांतरिक शक्तियों से अनभिज्ञ एवं अपरिचित रह जाते हैं। इसका मूल कारण है हमारा आत्मिक ह्रास। हमारे नेत्रों के सामने इस वैचित्र्यमय विश्व में विज्ञान ऐसे-ऐसे चमत्कार प्रस्तुत कर रहा है, मानव अपनी अनंत शक्तियों और प्रतिभा का ऐसा परिचय दे रहा है कि हम हैरान हो रहे हैं, और धीरे-धीरे अपनी अंतर्निहित शक्तियों में विश्वास करने लगे हैं। God made man after his own image अर्थात ईश्वर ने अपने अनुरूप ही मानव का निर्माण किया है, इस कथन की वास्तविकता को हृदयंगम करने लगे हैं। पुराणों में स्थान-स्थान पर आकाशवाणी की चर्चा तथा युद्धों में आग्नेयास्त्र, वरुणास्त्र इत्यादि के व्यवहारों का वर्णन हमें केवल कल्पनाजनित अथवा अतिरंजित लगता

था। परंतु अब रेडियो, टेलीविज़न, अणुबम, चालक-विहीन विमान आदि आविष्कारों को देखकर हम शास्त्रों एवं पुराणों में वर्णित चमत्कृतियों पर पुनः विश्वास करने लगे हैं। अब अपने अविश्वास पर हमें स्वयं लज्जा का बोध होने लगा है – अरे! यह तो सभी सम्भव है व्यर्थ ही भ्रमवश हम अपने प्राचीन इतिहास को झूठा अथवा अतिरंजित समझ बैठे थे।

इसी प्रकार संगीत कला का गौरवपूर्ण अतीत हमें बतलाता है कि संगीत में जादू का असर था, सम्मोहिनी शक्ति थी। उसमें मानव ही नहीं अपितु पशु-पक्षियों को भी सम्मोहित करने की क्षमता थी। संगीत ने नदी की वेगवती धाराओं को अपना रुख मोड़ने के लिये विवश कर दिया था, पत्थरों को पिघलाया, प्रदीप जलाया, ठूंठ वृक्षों में हरे पत्ते लगा दिये, ये सब किसी दैवी शक्ति से नहीं अपितु साधना से ही संभव हो सका था।

तानसेन ने संगीत साधना की; वे अपने गायन से दीप प्रज्वलित कर सकते थे, वर्षा करवा सकते थे। लेकिन तानसेन की गायकी में भी वह शक्ति, वह जादू नहीं था जो उनके गुरु स्वामी हरिदास की गायकी में था। तभी तो शहँशाह अकबर के आमंत्रण को उन्होंने यह कहकर ठुकरा दिया था, "अकबर से अधिक मेरे ऊपर ईश्वर की सत्ता का राज्य है।" तब संगीत प्रेमी अकबर वेश बदलकर तानसेन के शिष्य के रूप में उनके साथ हरिदासजी के पास पहुँचा। तानसेन ने स्वामीजी के सम्मुख गलत ढंग से गाना आरंभ किया तब अकबर को समझाने के लिये स्वामीजी ने गाना आरंभ किया; सच्ची गायकी क्या होती है तब अकबर जान सका। तब अकबर ने स्वामी हरिदासजी से पूछा था, "तानसेन की गायकी में वह जादुई शक्ति नहीं जो आपकी गायकी में है?" इस पर स्वामीजी ने जवाब दिया था, "तानसेन अपने स्वार्थ के लिये गाता है,

वह तुम्हारी इच्छाओं का गुलाम है, तुम्हारे आदेश से उसे गाना पड़ता है। जबकि मैं केवल अपने और अपने प्रभु के लिये गाता हूँ।"

तानसेन का समय तो चार सौ वर्ष पुराना है। आज से एक दशक पहले भी संगीत की सम्मोहिनी शक्ति की अनेक मिसालें हमें देखने को मिलती हैं। इस संबंध में स्वयं भातखण्डेजी ने अपना संस्मरण दिया है — "कुछ वर्ष हुये एक हिन्दुस्तान प्रसिद्ध गायक के मुँह से राग पूरिया मैंने सुना था। मैं सत्य कहता हूं कि उसके गाने से क्षण भर के लिये मैं बेसुध हो गया था। मेरे शरीर में दो एक बार तो रोमांच भी हुआ मैं समझता हूँ कि उत्तम गाने से आँख में पानी भर आना, ठंडक लगने जैसी कँपकँपी आती है वैसी होकर रोमांच होना, कोई-सा भी शब्द सहन न होना, हम कहाँ हैं, क्या हैं, क्षण भर के लिये भूल जाना इत्यादि चमत्कारिक प्रभाव श्रोताओं के ऊपर होते हुये रसिक लोगों से जो हम सुनते हैं, वह बिलकुल निराधार नहीं हैं।"1

इस संबंध में विष्णुदिगम्बरजी का अनुभव और भी अधिक दिलचस्प है — 'गिरिनार की पहाड़ियों में घूमते हुये पंडितजी की मुलाकात एक सन्यासी से हुई। गिरिनार की पहाड़ियों में वे घूम रहे थे, इसी समय जंगल में घाटी के बीच दूर से आती हुई मधुर ध्वनि को सुना। वे ध्वनि की दिशा में चलते गये और आखिर में एक पुराने जीर्ण-शीर्ण मंदिर में पहुँच गये। मंदिर में एक देवी की मूर्ति थी और उसके सामने वही सन्यासी बैठा आत्मलीन गा रहा था। पंडितजी वहाँ खड़े सुनते रहे। शीघ्र ही उन्होंने मंदिर की आस-पास की चीजों में एक परिवर्तन अनुभव किया। वह पुराना जीर्ण-शीर्ण मंदिर ऐसे चमक रहा था जैसे उसमें प्राण

---

1 हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति, भातखण्डे, पृ. २३२

डाल दिये हों, उन्होंने महसूस किया जैसे मंदिर के पत्थर सजीव हो गये हों। धीरे-धीरे संगीत ने पंडितजी को पूरी तरह से आविष्ट कर लिया; उन्होंने महसूस किया जैसे इनके शरीर में कंपन हो रहा हो और उनकी नसों में संगीत गूँज रहा हो। इस अनोखे और अलौकिक अनुभव ने पंडितजी को पूरी तरह से हिला दिया था। वे बुरी तरह से परेशान हो गये थे और उन्होंने सोचा कि इस तपस्वी में अवश्य जादुई शक्ति है।'[1]

पंडित पलुस्करजी के बाद की पीढ़ी में आने वाले संगीत कलाकारों में भी कला-साधना के फलस्वरूप अनेक प्रत्यक्ष चमत्कार सुनने को मिलते हैं- 'एक समय राजा भैया पूंछवाले प्रयाग के श्री कन्हैयालाल भार्गव के यहाँ जब भैरवी गा रहे थे तो पिंजड़े में बंद तोता जागकर बोलने लगा और प्रभात सूचक पक्षी चहचहाने लगे। हाथरस के सरस्वती विद्यालय में भी आप जब मियाँ-मल्हार गा रहे थे तो अकस्मात ही ठंडी वायू चलने लगी और अप्रत्याशित रूप से आकाश मेघाच्छन्न हो उठा।'[2]

इस संबंध में श्री ओंकारनाथ ठाकुर का प्रयोग भी उल्लेखनीय है - "मैं खोजशील रहा हूं। लाहौर का एक निजी अनुभव आपको सुनाता हूं। वहाँ के चिड़ियाघर में एक बहुत खतरनाक शेर आया था। मैंने अपने महाराष्ट्रियन साथी से कहा चलो अपना बेला साथ ले चलो, शेर के पिंजड़े के पास थोडी दूर जाकर तुम्हें अपने बेला पर कोमल गंधार का 'टच' देकर काफी राग के स्वर आंदोलित करने होंगे।" वे बोले, "भाई हो बड़े बुद्धू खैर चलो" चिड़ियाघर के रक्षक ने हमें रोका, उधर शेर दहाड़ मारता जाता था, जिससे कुछ दर्शक तो बेहोश भी हो जाते थे, किन्तु हम दोनों रक्षक को दक्षिणा थमाकर पिंजड़े के पास

---

१ पलुस्कर स्मृति ग्रंथ, पृ. १९२

२ संगीत, १९५६ जून, 'हमारे राजा भैया' पृ. २९, ३०

पहुँचे। हम कमज़ोर नहीं थे। शेर आगे बढ़ा और इधर उक्त स्वर धीरे-धीरे छेड़े गये मैं आपसे अतियुक्ति के साथ नहीं कहता - शेर का गुर्राना बंद हो गया, शेर के पंजे पिंजड़े से बाहर निकले मानो वह हमारे साथ खेलना चाहता है। शेर की आँखों से पालतू कुत्ते जैसा प्यार टपक रहा था। मुझे देखना था कोमल गंधार में दिल को कोमल करने की क्षमता है या नहीं।"[1]

कला-साधना के फलस्वरूप कला में जो प्रभाव उत्पन्न होता है इसके लिये गोविंदराव टेंबे जी ने अपनी पुस्तक, 'माझा संगीत व्यासंग' में अपना एक अनुभव लिखा है - "मौजुद्दीन खाँ का जन्म लखनऊ के कलावंत घराने में हुआ। कव्वाल बच्चे सादिक अली से इन्होंने ठुमरी की तालीम पाई।[2] इनकी महफिल में मुझे एक बार तानपूरा छेड़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सभी के हाथों में काफी के प्याले थे। मौजुद्दीन खाँ साहब ने 'अरे बोल रे पपीहरा' ये भैरवी की ठुमरी शुरू की। जलसे के जागरण के कारण सभी अलसाये से हो रहे थे, परंतु वह आलस चोर पाँवों से कहाँ गया पता नहीं। सभी इस उत्कृष्ट गायक के गायन में तल्लीन हो गये, काफी के प्याले वैसे ही रह गये। एक भी श्रोता की आँख कोरी नहीं रही। खुद गाने वाले का गला भर रहा था। यह देखकर महफिल के बीच में ही वे बोले, "आप सब की आँख में पानी आये इसमें मुझे बड़प्पन नहीं लग रहा। इस कला को हासिल करने के लिये मैंने जन्म भर जो कष्ट उठाये तब मेरे इतने कष्टों को देखकर मुझे आपकी तरफ से दाद नहीं मिलेगी क्या?" तुरत ही उन्होंने फिरत शुरू की और सारी महफिल गुलाबजल के फव्वारे चेहरे पर मारे गये हों इस तरह ताज़ी हो गयी।[3]

---

1 संगीत, १९५३ मार्च, पृ.२५६

2 माझा संगीत व्यासंग, गोविंदराव टेंबे, पृ ११२

3 वही " " , " " , पृ १०३

नत्थे खाँ साहब को रेल में बैठकर घूमने का अत्यधिक शौक था, पर उसके लिये टिकिट लेना होता है, इसकी उन्हें जानकारी न थी। एक बार किसी को बिना बताये वे तानपूरा लेकर स्टेशन पर जाकर प्रथम श्रेणी के डब्बे में जाकर बैठ गये किसी बीच के स्टेशन पर टिकिट चेकर ने उन्हें पकड़ा और बोला, "अरे तीसरे दर्जे में बैठते तो भी दंड कम हुआ होता।" उस पर वे राजवी बोलते हैं, "हम दरबार में भी गद्दी पर बैठते हैं।"

इस उत्तर से उस चेकर को क्रोध आया। उसने खाँ साहब को स्टेशन पर ही रोक दिया, इतना होते-होते रात के दो बजे खाँ साहब के रियाज़ का समय हो गया उन्होंने रियाज़ आरंभ किया। तपस्या से प्राप्त हुई उस गायकी के स्वर जैसे-जैसे घूमने लगे वैसे-वैसे मुग्ध जनता उनके चारों ओर एकत्रित होने लगी। उनमें ट्रेन के यात्री, सिग्नल, देने वाला, स्टेशन मास्टर, रेलवे पुलिस सभी थे। सभी खाँ साहब का गायन सुनकर सब कुछ भूल गये, थोड़ी देर में चेतना आने पर सब पूछताछ हुई और स्टेशन मास्टर की खास आज्ञा पर खाँ साहब के आगे के प्रवास की व्यवस्था हुई।"[1]

संगीत के इसी जादू के संबंध में आर. सी. बोराल लिखते हैं — "आपने मुख्तरी बाई आगरे वाली का कभी नाम सुना होगा। हाँ, तो एक दिन उसका कार्यक्रम था। भीड़ इतनी थी कि सड़क भी लोगों से भरी हुई थी। मुख्तरी बाई ने उस दिन ऐसा गाया कि लोग यथार्थ में रो उठे। मेरी अस्सी साल की दादी जो कि संगीत बहुत कम समझती थी, फूट-फूटकर रोने लगी। संगीत का ऐसा जादू मैंने आज तक नहीं देखा।"[2]

सहज ही एक प्रश्न उपस्थित होता है कि आज

---

1 नाद, गोपालकृष्ण भोबे, पृ. ३६

2 संगीत, १९५४ दिसंबर, एक साक्षात्कार, पृ. ३६

क्यों नहीं संगीत के माध्यम से वर्षा हो सकती? दीप जल सकते हैं? या हमारे संगीत में इतनी भी शक्ति नहीं रह गयी है कि सुनने वाले को रोमांचित ही कर दे या अश्रुपात ही करा दे? कम-से कम पशु-पक्षी नहीं तो जीते जागते इन्सान को ही आकर्षित कर ले? इसके बाद हम दुहाई देते हैं कि शास्त्रीय संगीत सुनने के लिये कुछ समझ होनी चाहिये यह केवल कुछ बुद्धिजीवियों के लिये है। इस संबंध में उस्ताद अमीर खाँ के विचार उद्धृत करना यहाँ उचित होगा – "यह कहना कि संगीत सुनने वाले संगीत की समझ नहीं रखते वैसा ही है जैसा कि बदज़ायका खाना न पसंद करने वाले इन्सान को उसे खाने की तमीज़ नहीं है कहकर चिढ़ाया जाय।"[1]

उस्ताद अमीर खाँ का कहना था – "शास्त्रीय संगीत तो संगीत का जुज़ है और उसका हरदिल अज़ीज न होना कोई मानी ही नहीं रखता। अगर संगीत एक जानवर तक पर असर कर देता है तो आखिर इन्सान तो एक सूझ-बूझ रखने वाला बशर है। संगीत जितनी दिल की चीज़ है उतनी दिमाग की नहीं और हर इन्सान के जिस्म में दिल धड़कता है।"[2]

तब उपरोक्त प्रश्न का उत्तर यही होगा कि हम आज तानसेन से अधिक स्वार्थी और दूसरों की इच्छाओं के गुलाम हो गये हैं और इन्हीं प्रवृत्तियों के फलस्वरूप आज इस कला की साधना वैसी नहीं हो पा रही है जैसी कि पहले करते थे। आज का संगीत विद्यार्थी कला साधना इसलिये नहीं करना चाहता कि उसके अंतस में तो इसकी साध-प्यास है नहीं और बाहर उसे कुछ भौतिक प्राप्ति होती नज़र नहीं आती। सो वह कलासाधक नहीं अपितु पदवीधारी बनकर रह गया है। केवल डिग्री हासिल करके कोई

---

१ संगीत, १९६० नवम्बर, 'उस्ताद अमीर खाँ', पृ. १६
२ वही पृ. १६

नौकरी मिल जाये और नौकरी पक्की होते ही रही-सही संगीत साधना, जो वह करता था उसे भी तिलांजली दे बैठता है।

यही स्थिति उस कला साधक की भी है जो प्रदर्शक बनना चाहता है। उसने भी यही मान्यता बना रखी है कि साधना की क्या आवश्यकता है? केवल सस्ते मँहगे प्रदर्शन किसी तरह होते रहें। इसी प्रदर्शन-बाजी में यदि लग गया दाँव और मिल गयी कोई पद, पदवी या उपाधि तो पौ बारह।

इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय स्तर के विद्यार्थियों में यह भी धारणा बनी हुई है कि पुराने उस्तादों की तरह रियाज़ करने की क्या आवश्यकता है संगीत को समझना ही बस काफी है। यह भी एक प्रमुख व बड़ा कारण है कि हमारे संगीत का स्तर दिन प्रति दिन गिरता जा रहा है। आज का विद्यार्थी कम से कम मेहनत करके कलाकार बन जाना चाहता है। स्वर्गीय विष्णु-दिगम्बरजी कहा करते थे कि बी.ए. की डिग्री फेल होने पर भी ढकेल-ढकेल कर ली जा सकती है, लेकिन संगीत के लिये यह बात लागू नहीं होती बी.ए. की डिग्री एक बार मिलने पर हमेशा के लिये फुर्सत हो जाती है। संगीत की पदवी निभाने के लिये कलाकार को उम्रभर मेहनत करनी पड़ती है। 'योरोप का एक अद्वितीय गायक चार-चार, पाँच-पाँच घंटे ऑपेरा में गाया करता था फिर भी वह सबेरे दो-तीन घंटे अभ्यास भी करता था। एक दिन उसके एक भक्त ने मेहनत के समय घर जाकर पूछा कि आप तीन-चार घंटे ऑपेरा में गाते हैं लोग आपको देवता के समान मानते हैं, फिर इतना अधिक आपको मेहनत करने की क्या आवश्यकता है? उसने जवाब दिया," दो दिन रियाज़ छोड़ दूँ तो यह बात जान सकूँगा कि मेरा गला कहाँ रुकता है, चार दिन रियाज़ छोड़ता हूँ तो यह बात मित्रों को पता चलने लगेगी और

६: दिन तक अभ्यास न करने पर मेरे श्रोताओं के मन में खटकने वाली गल्तियाँ मैं करने लगूंगा। यदि मुझे लोकप्रियता बनाये रखनी है तो मुझे कभी रियाज़ नहीं छोड़ना है।"[1] तानसेन के संबंध में भी इसी प्रकार की किंवदंति प्रचलित है।

तो संगीत-कला में एक प्रस्थापित कलाकार के लिये भी रियाज़ का इतना महत्व है तो फिर जिसे अभी साधना के चरण पार करने हैं, प्रस्थापित होना है उसके लिये रियाज़ की क्या महत्ता होगी हम समझ सकते हैं। आज रियाज़ और अभ्यास की कमी के कारण ही विश्वविद्यालयों से प्रतिवर्ष संगीत-मास्टर की उपाधि लेकर निकलने वाले हज़ारों विद्यार्थियों में एक कलाकार भी उत्पन्न नहीं हो रहा है।

यद्यपि संगीत शिक्षण में प्रतिभा, मार्गदर्शन और रियाज़ तथा चिन्तन का समान रूप से योगदान आवश्यक है। प्रतिभा और उचित मार्गदर्शन विद्यार्थी को प्राप्त है तो वह केवल उनके बल पर आगे नहीं बढ़ सकता बिना रियाज़ किये। चिन्तन करने की क्षमता भी उसमें प्रारंभिक रियाज़ के बाद जो ज्ञान प्राप्त होगा उसके बाद ही उत्पन्न होगी। संगीत के अतीत में झांकने पर ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे जिन्हें उनके गुरुओं ने यह कहकर भगा दिया था कि तुम्हें संगीत नहीं आ सकता। तब उनकी जीवनियाँ देखने पर ज्ञात होता है कि अखंड रियाज़ के बल पर उन्होंने संगीत जगत में उच्चतम स्तर के कलाकारों में स्थान पाया है।

इनमें घग्घे खुदाबख्श का नाम उल्लेखनीय है। 'आपकी आवाज़ घग्घी होने के कारण सभी इन्हें शिष्य बनाने से इन्कार कर देते थे। अत्यंत दुखी होकर वे ग्वालियर के उस्ताद नत्थन खाँ की सेवा में उपस्थित हुये और उन्होंने अपनी सारी कहानी शुरू से आखीर तक सुना

---

1 संगीत कला विहार, १९५२ मार्च, प्रो. बी. आर. देवधर, पृ. २६

दी। उन्होंने खुदाबख्श को दिलासा दी और कहा, 'तुम हमारे उस्ताद के खानदान के हो हम तुम्हें बहुत खुशी से सिखायेंगे मगर तुम्हारी आवाज़ सुधारने के लिये हमें बहुत मेहनत करनी पड़ेगी; साथ ही उससे भी अधिक मेहनत और रियाज़ तुम्हें करना पड़ेगा।" मतलब यह कि खूब ठोक-बजाकर धग्धे खुदाबख्श की तालीम आरंभ हुई। इनकी मेहनत के बल पर नत्थन खाँ ने इन्हें उच्च कोटि के गायकों में लाकर खड़ा कर दिया।[1]

इसी श्रेणी के कलाकारों में रामकृष्ण बुवा वझे का नाम भी उल्लेखनीय है — 'खाँ साहब मेंहदी हुसैन व निसार हुसैन हद्दू-हस्सू खाँ की गद्दी चला रहे थे। उस समय ग्वालियर गये हुये विद्यार्थियों में रामकृष्ण बुआ ही विशेष रूप से प्रसिद्ध हुये हैं। संगीत शिक्षा की प्राप्ति के लिये आप घर से भाग खड़े हुये थे और घूमते-घामते ग्वालियर पहुँचे। उस समय मानो ग्वालियर गंधर्व लोक था, जहाँ जाओ वहीं लोग गाते पाये जाते थे। पेट भरने के लिये रामकृष्ण बुआ जी ने भिक्षा माँगना आरंभ किया; किन्तु भिक्षा भी पेट भर नहीं मिलती थी। अस्तु आधे पेट रहकर ५-६ वर्ष बिता दिये। "मैं लंगोटी लगाकर गाँव में दिन भर घूमा करता, और तानें आलापा करता था।"

एक दिन बालागुरू ने मुझसे कहा, "तू यहाँ किसलिये आया है? तुझे गाना आना संभव नहीं; तेरा स्वरूप अच्छा है तू नाटक कम्पनी में चला जा।" आरंभ से ही मेरा स्वभाव कड़क होने के कारण मैंने उत्तर दिया, "आप मेरी हँसी उड़ाते हैं यह ठीक नहीं। यहाँ गाना सीखने जो पचास-साठ लोग आये हैं; उनमें गाने वाला मैं ही एक निकलूँगा ध्यान रहे।" मैं जिस किसी भी महफिल में जाता, यदि वहाँ बाला गुरूजी होते तो वे कहा करते थे, "आओ तानसेन"। जिसके भी पास जाता वही दुत्कारने लगा था।"

---

1 संगीतज्ञों के संस्मरण, विलायत हुसैन खाँ, पृ: ९९

मुसलमान लोग कहते, 'अबे लौंडे तू क्यों आया है, तुझे गाना नहीं आ सकता।'' इतने अपमानजनक निन्दनीय शब्द प्रतिदिन सुनकर भी मैंने अपना ध्येय नहीं छोड़ा। पश्चात जो लोग मेरा निरादर करते थे वही मेरी प्रशंसा करने लगे और कहने लगे इसने तो नई आवाज़ बना ली।''[1]

रियाज़ की शक्ति से ही रामभाऊ ने अपनी प्राकृतिक रूप से रूखी आवाज़ में मधुरता लाकर 'सवाई गंधर्व की उपाधि प्राप्त कर ली। यह उनकी जी तोड़ मेहनत और पुरुषार्थ से ही संभव हो सका।'[2]

इतिहास में इस प्रकार के और भी उदाहरण हैं जिनकी कि आवाज़ ही गाने योग्य नहीं थी; उन्होंने साधना द्वारा उच्चकोटि के कलाकारों की पदवी पायी। अथवा बिना गुरु के मार्गदर्शन के भी संगीत जगत में अपना स्थान बना लिया। परंतु सम्पूर्ण इतिहास की खोज करने पर भी ऐसा दृष्टान्त नहीं मिलेगा जो केवल बुद्धि, प्रतिभा और मार्गदर्शन के बल पर बिना रियाज़ कर संगीत संसार में किसी ऊँचाईयों को छू पाया हो। इस सम्बन्ध में यहाँ श्री गोविन्दराव टेंबेजी के विचार उद्धृत करने आवश्यक हैं — 'ईश्वर प्राप्त मधुर आवाज़ वाले गायकों को सुनने का मोह सभी प्रकार के श्रोताओं को आकर्षित करता है। परंतु उनकी मधुर आवाज़ के सामने उनका कर्तृत्व पीछे पड़ता है और कालान्तर में ऐसे गायकों के पास उसका महत्व नहीं रह जाता। इसके विपरीत जिनको आवाज़ की देन नहीं मिली उन्हें शिक्षा, निरीक्षण तथा परिश्रम आदि के द्वारा चिरकाल तक तन्मयता के साथ आराधना करनी पड़ती है। ऐसे लोग ही काल के अंतरंग को प्राप्त कर बैठते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि गायन कला को सुंदर आवाज़ से शत्रुत्व है; परंतु सुंदर आवाज़ को मेहनत से शत्रुत्व दिखता है।'[3]

---

1 संगीत कला विहार, १९५९ मई, 'पं. रामकृष्ण बुआ वझे', पृ. २६

2 संगीतांचे मानकरी, पृ. ५५

3 माझा संगीत व्यासंग, गोविन्दराव टेंबे, पृ. २१०

संगीत - शिक्षा के दौरान जो तत्व इतना महत्वपूर्ण है जिस पर संगीत शिक्षार्थी का सम्पूर्ण भविष्य निर्भर करता है, जिसके माध्यम से ही वह अपनी सही मंज़िल तय कर सकता है आज उसी रियाज़ को युवापीढ़ी ने नज़र अन्दाज़ कर दिया है।

अभ्यास शब्द अपने आप में व्यापक अर्थ रखता है जीवन के किसी क्षेत्र में हो उसमें दक्षता लाने के लिये अभ्यास करना ही होता है। अभ्यास का साधारण अर्थ है कि किसी कार्य को बार-बार किया जाय। अभ्यास की महत्ता के संबंध में कवि रहीम ने कहा है -

करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात है सिल पर पड़त निसान।।

या याद करना ही अभ्यास कहलाता है। अभ्यास गायन का हो या वादन का, खेल का हो या पढ़ाई का सभी अभ्यास का भाव एवं अर्थ एक ही है; जिससे कार्यसिद्धि में दक्षता आती है। संगीत एक अभ्यासजन्य विधा है। संगीत में साधना से ही सिद्धि प्राप्त होती है संगीत के साधकों को प्रतिदिन नियम से साधना करनी होती है। संगीत एक क्रियात्मक विधा है।

नियमितता, निरंतरता, जागरूकता, एकाग्रता, रचनात्मक कल्पना, रचनात्मक प्रवृत्ति, श्रद्धा, निष्ठा और लगन सच्चे अभ्यास की मुख्य बातें हैं। संगीत के मंचीय कलाकारों अर्थात मंच प्रदर्शन करने वालों को मंच पर बरकरार रहने हेतु सतत अभ्यास - रत रहना होता है।

उत्तम अभ्यास से कला में निखार पैदा होता है। सतत अभ्यास से कलाकार की सृजनात्मक शक्ति बढ़ती है; वह चिन्तन व कल्पना में सामंजस्य स्थापित करते हुये नव सृजन का शंखनाद करता है। अभ्यास से संगीत का व्यवहारिक पक्ष सबल होता है। शैली तथा स्वर-सामंजस्य का सौंदर्य, भव्यता और लय की श्रेष्ठता संगीत

साधना के लक्षण हैं।

आज संगीत शिक्षा की व्यवस्था विद्यालयों और महाविद्यालयों में होने के कारण डिग्री का महत्व बढ़ गया है; साथ ही गुरु-शिष्य-परंपरा पूर्ण रूपेण समाप्त होने जा रही है। गुरु-शिष्य-परंपरा में दी जाने वाली शिक्षा में रियाज़ अथवा अभ्यास कराने का जो अटूट सिलसिला चला करता था; जिसके फलस्वरूप गायन अथवा वादन में प्रभाव उत्पन्न होता था आज वह सिलसिला नहीं चल पा रहा है। भारतीय संस्कृति के इतिहास में संगीत को सदैव ही तपस्या का माध्यम माना गया है, जिसका एक-एक स्वर उस अमर मंत्र की तरह है जो तुरंत असर करता है; बशर्ते कि इसमें पूरी ईमानदारी के साथ अभ्यास किया जाय। आज अभ्यास की कमी के कारण ही संगीत का स्वर्गीय आनंद समाप्त होता जा रहा है। संगीत-कला की साधना में रियाज़ का महत्व बताते हुये विनायकराव पटवर्धन जी ने लिखा है -"यदि आवाज़ और गला ठीक न हो तो भी रियाज़ से ठीक हो जाता है।"१

गुदई महाराज -

"अभ्यास ही सब कुछ है।"२

उस्ताद अमीर खाँ -

"कम से कम दो वर्ष तक षड्ज-साधना करके स्वर ठीक करें तत्पश्चात आगे बढ़ें।"३

जीवनलाल मट्टू -

"संगीत की सफलता स्वर व अलंकारों के अभ्यास पर निर्भर करती है।"

अतः पहले स्वर में जादू उत्पन्न करना ही आवश्यक

---

१ संगीत, १९५५, जुलाई, पृ.५

२ वही

३ आवाज़ सुरीली कैसे करें, लक्ष्मीनारायण गर्ग, पृ.११४

४ संगीत १९५५, जुलाई, पृ.५

MEHTA LIBRARY
151
University

है और स्वर में जादू पैदा होना निरंतर अभ्यास से ही संभव है। और वो जादू सर पर चढ़कर बोलता है। इस प्रभाव के फलस्वरूप स्वर में क्या असर उत्पन्न होता है? इसे जानकर ही बिसमिल्लाह खाँ ने कहा -

'सुर की ठोकर खाकर पत्थर भी पानी हो जाता है।'[1]

बाबा आलाउद्दीन खाँ - 'असली मज़ा तो सुर में ही है।'[2]

ओंकारनाथ ठाकुर - 'स्वर के प्रभाव से हिंसक शेर को मैंने ऐसा मुग्ध कर दिया था कि उसकी आँखों से कुत्ते जैसी मुहब्बत टपकने लगी थी।'[3]

सुब्बूलक्ष्मी - 'स्वर काले और बदसूरत आदमी को भी सुंदर बना देता है।[4]

महात्मा गांधी - 'मेरी बीमारी सुरीले संगीत से जितनी जल्दी अच्छी हो सकती है उतनी किसी औषधी से नहीं।'[5]

लूथर - 'मधुर स्वर मनुष्य को अधिक भव्य, सभ्य, विनीत, नम्र तथा विवेकी बनाता है।'[6]

स्वर में उपरोक्त सभी प्रभाव और शक्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं; बशर्ते कि उसका रियाज़ पूर्णतः ईमानदारी से किया जाय। अमेरिका के प्रसिद्ध गायक मैक्सिम लारी के रियाज़ के संबंध में जो विचार हैं वे भी महत्वपूर्ण हैं - 'मेरे पास बड़े-बड़े धनाढ्यों के पुत्र एवं पुत्रि बड़ी-

---

१ आवाज़ सुरीली कैसे करें, लक्ष्मीनारायण गर्ग, पृ. १
२ वही ,,
३ वही ,,
४ वही पृ. २
५ वही पृ. २
६ वही पृ. २

रकमों के चैक लेकर आते हैं और मुझसे प्रार्थना करते हैं कि किसी भी प्रकार हमें प्रथम गायकों की श्रेणी में सम्मिलित कर गवा दीजिये। मैं कह देता अच्छी बात है आप यहाँ नित्यप्रति अभ्यास करने आईये। जब वे चले जाते तो मैं बड़ी ज़ोर से हँसता था क्योंकि मैं देखता कि ईश्वर प्रदत्त मिठास से ओत-प्रोत स्वर सम्पन्न होते हुये भी वे मेरे पास ऐसी दयनीय दशा में आते हैं। मैं जानता था कि इसका एकमात्र कारण इनका नियमित अभ्यास न करना ही है। दूसरे दिन से नये-नये सूट पहनकर मुख को क्रीम पावडर और अन्य उपक्रमों से सज्जित करके करके अपनी-अपनी कारों में वे मेरे यहाँ आ तो गये पर कुछ ही देर बाद वहाँ हालीवुड की प्रसिद्ध नर्तकी एवं सुन्दरी रीटा हैवर्थ के अंग सौष्ठव की चर्चा चलने लगी। मैं तो ऐसे दोस्त शिष्यों से पहले से ही परिचित था अतः ६८ वर्ष की अवस्था होते हुये भी मैं उनमें मिलकर उन जैसा ही युवक बन जाता और सोचता कि यह प्रत्येक व्यक्ति रियाज़ की महत्ता समझ जाय तो संसार कलाकारों से भर जाय। इसीलिये तो ईश्वर प्रदत्त स्वर माधुर्य होते हुये भी लाखों में से एक कलाकार बन पाता है।"1

इससे ज्ञात होता है कि स्वर-सौंदर्य होते भी उसमें ओजस्विता उत्पन्न करने उसकी रक्षा करने के लिये दैनिक अभ्यास की कितनी आवश्यकता है। हमारे उच्चकोटि के कलाकारों ने संगीत-कला की प्राप्ति में साधना (रियाज़) के योगदान और उसके महत्व को समझा था और इसी कारण वे इस कष्टसाध्य साधना में प्रवृत्त हो सके और संगीताकाश की ऊँचाईयों को छू सके थे। उन्होंने किस प्रकार की दुर्दमनीय साधना की है उसके कुछ दृष्टांत यहाँ देने आवश्यक समझती हूँ ताकि इन्हें पढ़ने के बाद हमारी युवा

---

1 आवाज़ सुरीली कैसे करें?, लक्ष्मीनारायण गर्ग, पृ. ११४ से ११५

पीढ़ी को कुछ प्रेरणा मिल सके। आज के युग और आज की परिस्थितियों में भी यदि नई पीढ़ी इन महान् विभूतियों से प्रेरणा लेकर, उनके द्वारा की गयी मेहनत का यदि एक चौथाई भी करे तो हमारे शास्त्रीय संगीत का महान् कल्याण होगा। साधना के अभाव के फलस्वरूप उसमें जो कमियाँ परिलक्षित हो रही हैं वे अवश्य दूर होंगी और उसकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।

नत्थन खाँ — १०-१२ साल आगरा में शिक्षा हो जाने पर नत्थन खाँ को आगे तालीम के लिये जयपुर जाना पड़ा। फिर उसी लगन से जयपुर में शिक्षा ग्रहण करके आप निकले। २४ साल संगीत शिक्षा आपने ली वह भी पूर्णरूपेण संगीत को समर्पित होकर।[1]

ध्रुपद गायक जकीरुद्दीन खाँ और अलाबन्दे खाँ —

डागर वाणी के घराने में अब से कुछ वर्ष पूर्व प्रसिद्ध गायक जकीरुद्दीन खाँ और अलाबन्दे खाँ हुये थे; जिन्होंने अपनी गायकी से संपूर्ण भारत में धूम मचा दी थी। स्वयं भातखण्डे जी ने यह स्वीकार किया था कि विभिन्न रागों में प्रयुक्त होने वाली श्रुतियों का सही प्रदर्शन केवल दोनों भाई ही कर सकते थे। दोनों भाईयों का लालन-पालन उनके चाचा बहराम खाँ ने किया था। बहराम खाँ संगीत के प्रकाण्ड विद्वान थे। ये जयपुर महाराज नरेश रामसिंह के दरबारी गायक थे। इन्हीं के मार्गदर्शन में दोनों भाईयों ने संगीत-शिक्षा ग्रहण की। उनके यहाँ के वयोवृद्ध कलाकारों का कथन है कि ये दोनों भाईयों को प्रतिदिन रात्रि के दस-ग्यारह बजे से नियमित रूप से रियाज़ करने बिठाते थे और प्रातःकाल तक निरंतर रियाज़ करवाते थे। यदि इस बीच दोनों में से

---

1 संगीत कला विहार १९५१-५२, पृ.१६

किसी को ज़रा भी निद्रा आने लगती तो आग और तम्बाखू से भरा हुक्का उसके ऊपर ऊँडेल दिया करते थे। आलाप की उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु बहरामखाँ ने इन्हें तत्कालीन सेनी घराने के प्रसिद्ध संगीतज्ञ आलमसेन का शिष्य भी बनाया था। इस प्रकार कठोर साधना और सही मार्गदर्शन के परिणामस्वरूप ही दोनों भाईयों ने समस्त भारतवर्ष में ख्याति अर्जित की।[1]

खाँ साहब अल्लादिया खाँ —

'मैं जब नाटक देखने जाता तब उसी रास्ते खाँ साहब अल्लादिया खाँ का घर पड़ता था। रात नौ बजे से रियाज़ शुरू होता था। एक आध मुश्किल राग में मुश्किल तान लेते हुये यदि कहीं गला अड़ा या उस जगह ज़रा सा भी कच्चापन दिखाई दिया कि उस तान को घोटने की शुरुआत होती थी। १०-१२ बार वही तान सुनकर ऊब जाने के बाद मैं नाटक देखने निकल जाया करता था। नाटक समाप्त होने पर मतलब ढाई-तीन घंटे बाद उसी रास्ते लौटने पर वही तान पलटा सुनने को मिलता था। इतनी अजस्त्र मेहनत के बाद उस गले में अटक कहाँ रहेगी।'[2]

बाबा आलाउद्दीन खाँ मैहर —

संगीत सीखने की इच्छा से बाबा आठ वर्ष की अवस्था से घर से भागे और सदाव्रत में खाना खाकर, दवाखाने में सोकर बाबा ने वे दिन व्यतीत किये।[3]

इसके पश्चात् वे गायन सीखने नानू गोपाल

---

1 संगीत कला विहार, १९६९ मार्च, पृ. १२

२ माझा संगीत व्यासंग, गोविन्दराव टेंबे, पृ. १६१

३ संगीत कला विहार, १९६२ अक्तूबर, पृ. ४१६

के पास गये उनके कहने के अनुसार बाबा ने सात-आठ वर्ष तक पल्टे और सभी रागों के सरगम को घोटा। इसके साथ ही नंदलाल के पास गुरूजी के कहने पर उन्होंने मृदंग सीखा।[1]

फिर अचानक गुरु की मृत्यू होने पर उन्होंने वाद्य सीखना प्रारंभ किया। विवेकानंद के भाई हाबू दत्त, मिस्टर लोबो से क्रमश: फिडल, क्लैरिउनेट, शहनाई की शिक्षा तीन वर्ष तक ग्रहण की।[2] फिर अहमदअली खाँ का सरोद सुनकर बाबा ने उनसे गंडा बँधवाया और अत्यंत लगन से उनकी सेवा की पर फिर भी खाँ साहब ने उन्हें कुछ नहीं सिखाया।

इसके पश्चात उन्होंने वज़ीर खाँ का गंडा बाँधा पर ३ वर्ष तक उस्ताद ने उन्हें कुछ नहीं सिखाया। बाबा की पत्नी की मृत्यू की घटना से उस्ताद का हृदय परिवर्तन हुआ और उन्होंने सिखाना शुरु किया ५ साल शिक्षा देने के बाद उन्होंने मुझे कहा, "अब तुम जा सकते हो तुम्हारी शिक्षा पूर्ण हुई।"[3]

"उम्र के आठवें वर्ष घर से भाग खड़ा हुआ और चौतीसवें वर्ष में विद्या समाप्त करके, गुरु का आर्शीवाद लेकर मैं देशपर्यटन के लिये चल पड़ा।[4]"

स्वयं बाबा शिष्यों के रियाज़ के संबंध में अत्यधिक कठोर थे। निस्संदेह उनकी कठोरता ने ही उस्ताद अलीअकबर खाँ, पं. रविशंकर, अन्नपूर्णजी, निखिल बनर्जी, तथा जोतीन भट्टाचार्य जैसे कलाकारों को जन्म दिया। वैसे उस्ताद अत्यंत कोमल हृदय थे पर संगीत के प्रति लापरवाही उन्हें बिलकुल पसंद न थी। एक बार

---

१ संगीत कला विहार, १९६२ अक्टूबर, पृ. ४२०
२ वही , पृ. ४२२
३ वही , पृ. ४२४
४ वही , पृ. ४२६

निखिल बनर्जी कुछ अस्वस्थ थे अतः अभ्यास के समय में उन्होंने कुछ छूट चाही। किंतु बाबा ने स्पष्ट कर दिया – "अभ्यास के समय में कोई छूट नहीं मिलेगी, भले ही मर जाओ।" अभ्यास के प्रति बाबा की इसी प्रकार की उदारता ने तथा शिष्यों के प्रति अनुदारता ने एक बार स्वयं बाबा के पुत्र अलीअकबर खाँ को घर से भागने पर विवश कर दिया था।[1]

असगरी बेगम सागरवाली –

"मैं जब सात साल की थी तब उस्ताद जहूर खाँ मेरी माँ से माँगकर मुझे ले आये थे उस्ताद का तालीम देने का तरीका भयंकर रूप से कठोर और अनुशासनबद्ध था। शुरु के साढ़ेसात साल तो मैंने विभिन्न लयकारियों में मात्राओं को गिनने का ही रियाज़ किया था।

जब मैं युवा हुई तो एक रोज़ मेरे मन में आया काजल लगाऊँ। मैं काजल लगा ही रही थी कि उस्ताद की आवाज़ मेरे कानों में पड़ी – 'सागरवाली' सुनते ही मैं फौरन रियाज़ पर बैठ गयी। खाँ साहब की आँखे गुस्से से लाल थीं। उन्होंने पूछा जो मैंने सिखाया, वह तुमने याद किया? और फिर अकस्मात गरजे – "यह क्या है?" मैंने अपने कपड़ों पर इधर-उधर देखकर पूछा "क्या?" मैं भूल गयी थी कि मैंने आँखों पर काजल लगा लिया है। वे बोले कोई बात नहीं मैं कल तुम्हें देखूँगा।" अगले दिन उन्होंने नाई बुलवाया और उससे कहा – "सागरवाली का सिर मूँड दो।" नाई ने बहुत सलाह दी कि – "इसके बाल लम्बे हैं, इन्हें मत कटवाईये, दुबारा इन्हें बड़े होने में समय लगेगा।" पर उस्ताद कहाँ मानने वाले थे। कहा काटो, काटो! अपने साज सिंगार में ही इतनी मश्गूल

---

1 संगीत, १९८४ जनवरी, 'संगीत और अभ्यास', पृ. २९

रहेगी तो क्या रियाज़ खाक करेगी।" और मेरा सिर मूंड दिया गया। यह सब सिर्फ आँखों में काजल लगाने की वजह से हुआ।[1]

उस्ताद नज़ीर खाँ —

"मेरे उस्ताद ने मेरी तालीम के शुरू के छः महीनों में शुद्ध स्वर सप्तक के अलावा कुछ भी गाने नहीं दिया। पहले-पहले तो मैं बहुत ही निराश और दुखी रहने लगा मगर छः महीने बाद मेरा गला सात सुरों पर ऐसा दौड़ने लगा कि उसे कोई अटकाव ही न रहा। मेरे सुर ऐसे चलने लगे जैसे पानी का रेला। फिर मेरे उस्ताद ने मेरे साथ-साथ सारेगमपधनीसां। सांनि ध प म ग रे सा द्रुत लय में गाना आरंभ किया। उनके साथ गाने से मेरे गले में तरह-तरह के कण और हरकतें पैदा होने लगीं। फिर उन्होंने मुझे जगह-जगह पर रोकना आरंभ किया, कभी धैवत कभी निषाद पर ठहराते और फिर वहीं से लौटाते। मतलब यह कि इस तरकीब से उन्होंने मेरे मुख से एक सम्पूर्ण तान से हज़ारों तानें निकलवाईं। यह मैं नहीं जानता था कि राग क्या चीज़ है, मगर गला किसी भी जगह रुकता नहीं था। उस्ताद सिर्फ हाथ से लय का इशारा करते और मैं उनके इशारे पर गला फेंकता था।"

ऐसी मेहनत से ही गवैया बनते हैं। पुराने उस्ताद अपने शागिर्दों से एक-एक, दो-दो बरस तक सिर्फ सुर भरवाते थे। तभी उनके गले ऐसे हो जाते थे जैसे रेशम की डोर। तैय्यार गले में आप चाहे जो रंग डाल दीजिये।"[2]

---

1 संगीत, १९८४ जनवरी, पृ.१२३, 'ऐसी थी उस्ताद की तालीम'
2 संगीत, १९६० फरवरी, पृ. ४१, 'उस्ताद नज़ीर खाँ'

शंकरराव पंडित –

उनका कंठ पौरुषेय था। उत्कट श्रम करके उन्होंने कंठ रबर के समान मुलायम बना लिया था। वे नित्य आठ-दस घंटे रियाज़ करते थे।[1]

सारंगी नवाज़ बुंदू खाँ – "मेरे पैरों में पड़े हुये इन गड्ढों को देखिये। अगर ये जानदार होते और बोल सकते तो आप साहबान को बता देते कि मेरी कामयाबी का राज़ क्या है? यह और कुछ नहीं मेरी घंटों के हिसाब से इतने वर्षों की मेहनत है। जवानी में यह हाल था कि यदि जाड़े के दिन हुये और सौदा-सुल्फ लेने के लिये बाज़ार जाना पड़ा तो अपनी रज़ाई की आड़ में सारंगी को साथ लेकर ही निकलता और चलते फिरते भी जहाँ तक हो सके अपनी मश्क जारी रखता। इसी साधना को कहते हैं उठत-बैठत कबहूँ ना टूटे ऐसी तारी लागी।"[2]

भास्कर बुआ बखले –

भास्कर बुआ ने ग्वालियर, आगरा, जयपुर में कुल मिलाकर १८ वर्षों तक गायन का अध्ययन किया और अपनी चतुरस्त्र गायकी का निर्माण किया।[3]

अंजनीबाई मालपेकर –

नज़ीर खाँ के पास अंजनीबाई मालपेकर की तालीम सुबह चार बजे से प्रारंभ होकर नौ-दस बजे तक लगातार चला करती थी। लगातार १० वर्षों तक

---

१ संगीत, १९६६ नवम्बर, पृ. ४८, 'साक्षात्कार', 'गान महर्षि शंकरराव पंडित'

२ संगीत, १९४९ मई, पृ. ३१८

३ संगीत कला विहार, १९६४ अक्टूबर, पृ. २९५.

इसी प्रकार की तालीम चालू रही पहले ३½ वर्षों तक सिर्फ यमन की फिर २½ वर्ष तक सिर्फ भैरवी ये दो ही राग शुरु के छः वर्षों में तैय्यार किये गये। इस शिक्षा के संबंध में अंजनीबाई का कथन है, 'मेरे गुरु बोलते थे कि यमन यह सब तीव्र स्वरों वाला राग है और भैरवी यह सब कोमल स्वरों वाला राग है। इन दोनों रागों के संगोपांग अभ्यास से सप्तक के सभी स्वर गले में उत्तम रीति से चढ़ जाते हैं। फिर कोई राग गाना कठिन नहीं होता।"[1]

मोघूबाई कुर्डीकर —

मोघूबाई को खंडित रूप में ही क्यों न हो २० सन् से ४६ सन् तक खाँ साहब अल्लादिया खाँ से उनकी मृत्यु पर्यंत कसकर शिक्षा मिली; यानि पूरे छब्बीस साल।[2]

उस्ताद बड़े गुलामअली खाँ —

उस्ताद बड़े गुलाम अली खाँ कहा करते थे कि, "१६ से २२ वर्ष की उम्र तक मैंने दिन-रात स्वर-साधना की संगीत मेरे जीवन का अंग बन गया था। मेरी नींद हराम थी मेरी सभी गतिविधियाँ संगीतमय बन गयी थीं।"[3]

उस्ताद चाँद खाँ —

उस्ताद चाँद खाँ दिल्ली घराने के हैं। आपकी संगीत-शिक्षा पाँच वर्ष की आयु से प्रारंभ हुई। रियाज़ के लिये आपका कहना है — हर समय गाने

---

१ संगीत कला विहार, १९६४ सितम्बर, पृ. ३३९,

२ वही , १९६४ जुलाई , पृ. २६५

३ संगीत , १९६८ , जून , पृ. ३२ , 'उस्ताद बड़े गुलाम अली खाँ' संगीत सितारे

का ही काम था। बारह-चौदह घंटे तो रोज़ फिर भी गा ही लेता था।१

गुंडूबुआ इंगले गायनाचार्य भूतपूर्व दरबार गायक सांगली-

गाना सीखने की इच्छा से गुंडूबुआ मिरज गये और वहाँ एक दूर का संबंध बताकर बालकृष्ण बुआ से काका का नाता जोड़ लिया और गायन सीखना आरंभ किया। बिलकुल सबेरे उठकर गुरु-गृह की सफाई-धुलाई, पानी भरना, इत्यादि के पश्चात् स्नान तथा गुरु-गृह का भोजन तैय्यार करना; तब फिर स्वयं मधुकरी माँगकर अपना पेट भरना। दोपहर में गुरु गृह के अन्य कार्य और इस सब के पश्चात् जितना संभव हो उतना गुरुसान्निध्य प्राप्त कर जो मिल जायें सीख लेना। इस दिनचर्या का गुंडूबुआ ने लगभग १२ वर्ष तक पालन किया। गुरूजी को तो गुंडूबुआ ने सेवा और लगन से प्रसन्न कर लिया पर गुरु पत्नी क्रोधी स्वभाव की थीं; वे कब अप्रसन्न हो जायें निश्चित नहीं था। गुंडूबुआ को बारंबार उनके कटुवचन सुनना और मार खाना पड़ता था; यहाँ तक कि कभी-कभी तो वे वर्षा और शीत का विचार न करके भी उन्हें घर से बाहर निकाल देती थीं।२

राजा भैय्या पुंछवाले —

आपने दस वर्ष ध्रुपद-धमार की शिक्षा गुरुवर्य वामन बुआ देशपांडे से प्राप्त की फिर दस वर्ष तक ख्याल गायन की शिक्षा शंकरराव पंडित से प्राप्त की।३

---

१ संगीत, १९५६ जुलाई, पृ. ५३, 'संगीत साधकों से भेंट, उस्ताद चाँद खाँ'
२ संगीत कला विहार, १९४९ सितम्बर, पृ. १०
३ संगीत कला विहार, १९५० अंक २, पृ. २६

मेंहदी हसन खान –

"मैंने रियाज़ बहुत किया है। सात साल की उम्र से ही रियाज़ करना शुरू किया। कई बार तो रात के दो बजे तक रियाज़ किया है; इसी वजह से सुर सरपट निकलते हैं।"[1]

हीराबाई बड़ौदेकर –

हीराबाई की संगीत-शिक्षा अब्दुल करीम खाँ के भाँजे उस्ताद वहीद खाँ के पास विधिवत शुरू हुई। वहीद खाँ ने उन्हें १९१८ से १९२२ तक अखंड रूप से संगीत शिक्षा दी।

वहीद खाँ पढ़ाई में मेहनत का विशेष आग्रह रखते थे। चीज़ के स्थाई अंतरे को ठीक से लयबद्ध कर पाने के लिये १५-२० दिन की तालीम दिया करते थे। प्रत्येक बंदिश की ४०-४० दिन, फिर दो तीन महीने उसका अभ्यास तब जाकर कहीं उसे गले में फिट कर दिया जाता था। इतने भगीरथ प्रयत्नों के बाद उस्तादजी समझते थे कि छात्र को उस राग की कुछ जानकारी हो गयी है कुछ समझ आ गयी। तदुपरांत मंद्र सप्तक में विचार करने की शिक्षा शुरू हो जाती। वहीद खाँ इस सप्तक में कम से कम छः-सात तरीके हासिल करने का आग्रह रखते। उसके बाद यथाक्रम मध्य सप्तक में फिर तार सप्तक में विस्तार करने के लिये पाठ दिया करते। एक-एक तान को कंठसात करने के लिये एक-एक घंटे की तालीम दिया करते। उकतानें की सख्त मनाही थी। तिसपर गाते वक्त एक ही जगह पर दुबारा आने की या किसी एक तान को दोहराने की सख्त मनाही थी। गाना सिखाने के उनके ढंग की एक खासियत थी, अपने छात्र को रास्ता दिखाते थे और अपनी बुद्धिमानी और प्रतिभा

---

1 संगीत कला विहार, १९६३ मार्च, पृ. २६१

के बल पर उस रास्ते पर बढ़ते जाने का गुर बताते। इससे लाभ यह हुआ कि हीराबाई जो भी गाना उनके मुख से सुन लेती, उसे गाते वक्त भी उसमें वे निजी स्वरविलास की कल्पना तथा प्रतिभाशक्ति की स्वतंत्र चमक दिखाना सीख पाई।[1]

केसरबाई केलकर —

एक बार तालीम देना स्वीकार कर लेने पर, खाँ साहब अल्लादिया खाँ इस विषय में कभी आलस नहीं करते थे। सुबह आठ बजे से तालीम शुरू होती तो दोपहर एक बजे तक चलती। पुनः चार बजे शाम से शुरू होकर आठ बजे रात तक फिर चलती। इसके अतिरिक्त प्रातःकाल में साढ़े पाँच बजे से साढ़े सात बजे तक मंद्र साधना चलती सो अलग।[2] इस तरह निरंतर यह शिक्षण आठ वर्ष तक चालू रहा।[3]

मल्लिकाअर्जुन मंसूर —

"पहले स्वर सिद्धि करना चाहिये बिना उसके आगे नहीं बढ़ सकते। जो बिना स्वरसिद्धि किये आगे बढ़ गये उनसे आरोह-अवरोह भी स्वर में गाते नहीं बनता। इसीलिये पहले गुरु शिष्यों को सुबह उठाकर भैरव राग का आरोह-अवरोह, अलंकार, सरगम स्वर और आकार में तीन-तीन घंटे करवाते थे। आजकल तो गाना सीखते हैं, चीज़ सीखते हैं पहले।"[4]

---

१ संगीत कला विहार, १९७० जुलाई, पृ. २१५
२ वही , १९६६ अक्टूबर, पृ. ४५१
३ वही , " , पृ. ४५३
४ कलावार्ता, १९८५ सितम्बर, पृ. ८

भीमसेन जोशी —

भीमसेन के पिता श्री गुरूनाथ द्वारा लिखित संस्मरण – 'कुंदगोल में सवाई गंधर्व के पास भीमसेन का रहने का प्रबंध कर मैं लौट आया। रामभाऊ श्रम, निष्ठा, लगन विरक्ति आदि गुणप्रिय थे। कुछ दिन पश्चात मैं यह देखने गया कि प्रगति कैसी चल रही है। भीमसेन पानी भर रहा था, सामने दो घड़े थे, पेट पीठ एक हो गये थे, हड्डियाँ निकल आईं थीं। सांस जोर से चल रही थी आँखे लाल थीं। मेरे पूछने पर उसने कहा, "बुखार आया था।" मुझे गुस्सा आ गया मैंने रामभाऊ से कहा, "बुखार में भी आप उसे पानी भरने के लिये कहते हैं?" इस पर उन्होंने कहा, "मुझे जो ठीक लगता है वही करता हूं। आपको पसंद न हो तो आप अपने बेटे को ले जा सकते हैं।" भीमसेन ने मुझसे कहा, "मैं ठीक हूं आप जाईये।" विद्या के लिये कितना त्याग आवश्यक है? निष्ठा, गुरूभक्ति का प्रभाव मिल गया।[1]

निखिल बनर्जी —

निखिल बनर्जी ने उस्ताद अलाउद्दीन खाँ के पास ५ वर्षों तक संगीत साधना की। बाबा के पास सीखने से पहले वे अखिल-बंगाल-स्पर्धा में पुरस्कृत हो चुके थे। उन्हें प्रतिदिन १४-१४, १५-१५ घंटे रियाज़ करना पड़ता था।[2]

उपरोक्त संस्मरणों द्वारा पता चलता है कि कलाकारों की संगीत-साधना की पराकाष्ठा क्या है। इन विभूतियों ने अपना सम्पूर्ण जीवन ही संगीत कला को समर्पित कर दिया है। वर्षों तक प्रतिदिन घंटों का रियाज़ ही प्रथम तो सहज-साध्य-वस्तु नहीं है, जिस पर इन

---

१ सं. कला विहार, १९६३ जुलाई, पृ. ४५९

२ संगीत, १९५९ अप्रैल, पृ. ४६

महानुभवों ने संगीत-विधा अर्जित करने के लिये जो कष्ट सहे हैं वे भी ध्यान देने योग्य हैं। यदि संगीत कला सहज ही साध्य होने वाली होती तो फिर उन्हें संगीत सीखने के लिये इस प्रकार अपना खून देने की क्या आवश्यकता थी?

आज के विद्यार्थियों में श्रेष्ठ कला साधना के लिये आवश्यक सातत्य, श्रद्धा, परिश्रम आदि गुणों की कमी है जबकि आज संगीत-शिक्षा प्राप्त करने में अनेक बातें पहले से काफी आसान हो गयी हैं। उदाहरणार्थ जो ज्ञान प्राचीन प्रणाली में पाँच वर्ष में बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता था आज वह एक वर्ष में बड़ी सरलता से प्राप्त होता है। पर आज संगीत साधना को विद्यार्थी जीवन का अंग नहीं मानता इसी कारण आज जो सुविधायें संगीत-शिक्षा के क्षेत्र में हैं उनका भी वह लाभ नहीं उठा पाता। इस कला को पूर्णरूपेण हासिल करने की जिद से दीर्घकालीन परिश्रम करने की प्रवृति छात्रों में दुर्लभ है। यद्यपि आज की युवा पीढ़ी में भी कुछ युवा कलाकार हैं जिन्होंने इस ढंग से कला अर्जित करने में जीवन की बाज़ी लगाई है और श्रेष्ठ कलाकार का स्थान भी पाया है जिनमें जीतेन्द्र अभिषेकी, सरला भिड़े, मालिनी राजूरकर, प्रभाकर कारेकर, अश्विनी भिड़े, बुद्धादित्य मुखर्जी, अजय पोहनकर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

कुछ बुजुर्ग संगीत जगत के विद्वान कलाकारों के साथ वर्तमान प्रस्थापित कलाकारों की दृष्टि में संगीत-कला की साधना में रियाज़ का कितना महत्व व योगदान है इस संबंध में मैंने उनके मत लिये हैं और करीब-करीब सभी का मत है कि आज के युग की बदलती हुई परिस्थितियों को देखकर तथा संगीत की परिवर्तित शिक्षण-पद्धति के अनुसार कम से कम प्रत्येक शिक्षार्थी को कलाकार बनाने की दृष्टि से चार-पाँच घंटे नित्य का रियाज़ आवश्यक है। इतना समय आज की परिस्थितियों में भी

दिया जा सकता है, इसके पश्चात् विद्यार्थी जितना अधिक से अधिक समय दे सके अच्छा होगा। इसके साथ-साथ ही इन सभी कलाकारों का कथन था रियाज़ जितनी भी देर किया जाय सोच-समझकर हो। इसके साथ ही रियाज़ की अवधि आवाज़ की प्रकृति और शिक्षार्थी के स्वास्थ्य पर भी निर्भर करती है; फिर भी चार घंटे प्रतिदिन रियाज़ आवश्यक है ही। इस अवधि को सुविधानुसार विभाजित भी किया जा सकता है, जैसे दो घंटे सुबह दो ढाई घंटे शाम। यहाँ कुछ विद्वानों और श्रेष्ठ कलाकारों के मत इस प्रकार हैं-

श्रीमती सुमति मुटाटकर -

हमारे संगीत जगत की विदुषी शास्त्रज्ञ और कलाकार महिला सुमतिजी ने अपनी योग्यता और प्रतिभा के बल पर अनेक महत्वपूर्ण पदों की ज़िम्मेदारी निभाई है। उच्चकोटि का संगीत कलाकार और शास्त्रज्ञ होना एक व्यक्ति के लिये दुष्कर कार्य है। ये दोनों ही योग्यतायें आप में थीं और आज इसके साथ ही आपका इस क्षेत्र में दीर्घकालीन अनुभव भी हमें संगीत-जगत में उठने वाले अनेक प्रश्नचिन्हों के समाधान और मार्गदर्शन के लिये बहुत ही आवश्यक है। आपने संगीत संसार में हुये परिवर्तन को बहुत नज़दीक से देखा है; जब संगीत शिक्षा गुरुकुल-पद्धति से दी जाती थी और विधालयीन-शिक्षा-पद्धति का प्रारंभ हुआ था। अतः आपके विचार और मत हमारे लिये बहुत उपयोगी हैं।

आपकी दृष्टि में संगीत-शिक्षा के लिये बुद्धि, प्रतिभा तथा उचित मार्गदर्शन के साथ ही उस्तादों गुरुओं के द्वारा सामने करवाये जाने वाले रियाज़ का बहुत महत्व है। आपके मतानुसार रियाज़ के बिना क्रियासिद्धि नहीं मिलती, ज्ञान प्राप्त हो सकता है, यदि गा-बजा भी लेंगे तब भी वह प्रभावी नहीं हो सकेगा। प्रदर्शन करने के लिये, कलाकार बनने के लिये रियाज़ का अत्यधिक महत्व है। आपने

अपने संगीत शिक्षण के वर्षों में ८-८ घंटे रियाज़ किया है। आज प्रस्थापित होने के बाद भी इस आयु में भी रियाज़ आपका अब भी अनवरत चल रहा है।[1]

कमल ताई ताँबे —

शास्त्रीय संगीत में गुणात्मक सुधार के लिये आप उचित शिक्षा और मेहनत पर बल देती हैं। आपका मानना है कि पुराने लोग जितने रियाज़ी और परिश्रमी थे वैसे आज नहीं हैं। रियाज़ की इस कमी का प्रभाव संगीत कला के स्तर पर पड़ता है। आज जो संगीत कला का स्तर गिरा है उसका कारण रियाज़ की कमी ही है ऐसा आपका मानना है।[2]

पंडित महादेव प्रसाद मिश्र —

रियाज़ पर ही संगीत विधा का दारोमदार है। सच्चे गुरु से सीखने के बाद रियाज़ ही दूसरी सीढ़ी है संगीत कला की प्राप्ति के लिये। इसके बिना स्वर, लय, ताल का ज्ञान होना संभव है पर सच्चाई उत्पन्न होना असंभव है।[3]

श्री छन्नूलाल मिश्र —

रियाज़ का संगीत विधा में अपना महत्व है। परंतु जितनी देर रियाज़ किया जाय सोच-समझकर किया जाय। सोच-समझकर किया रियाज़ प्रतिदिन तीन-चार घंटे भी पर्याप्त होगा। संगीत कला में रियाज़ के अभाव में गायकी में प्रभाव उत्पन्न होना असंभव है। उसीसे संगीत में शक्ति और ओज उत्पन्न होगा; जिसके फलस्वरूप जन के मन से वाह के

---

१ प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा प्राप्त, श्रीमती सुमति मुटाटकर, दिल्ली, २३.२.८८

२ कमलताई ताँबे, प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा प्राप्त, बम्बई, १३.१०.८८

३ पंडित महादेव प्रसाद मिश्र, प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा प्राप्त, बनारस, २८.२.८९

स्थान पर आए निकलेगी और जनता उसे छोड़ेगी नहीं सुनेगी।[1]

पंडित जसराज –

रियाज़ से जो आदमी बनता है वह और किसी चीज़ से नहीं। हाँ यह है कि आज के युग में बौद्धिकता बढ़ी है उसके आधार पर कुछ थोड़ी कमी रियाज़ में की जा सकती है। जैसे पुराने समय में लोग १२-१४ घंटे रियाज़ करते थे तो अब ९-१० घंटे हो सकता है।[2]

हफीज़ अहमद खान –

प्रारंभिक स्थिति में रियाज़ भी गुरु के सामने करना होगा। एक स्तर पर पहुँचने के बाद गुरु के बिना उसके बताये मार्ग पर भी रियाज़ किया जा सकता है। रियाज़ के बिना गायन अथवा वादन में आब उत्पन्न नहीं होगी। आवाज़ के धर्म, स्वास्थ्य आदि का ध्यान रखकर ही रियाज़ का समय निश्चित किया जा सकता है। पर सामान्य रूप से कम से कम सुबह के समय का रियाज़ एक घंटे से कम नहीं होना चाहिये।[3]

यशवंत बुआ जोशी –

आज बुद्धिवादिता बढ़ने से रियाज़ कम हो गया है। इस कला की प्राप्ति के लिये हमने जो कष्ट उठाये आज वो स्थिति नहीं है। कोई भी चीज़ जरूरत से अधिक मिलने पर उसका महत्व घट जाता है। जल्दी खाने से कोई लाभ नहीं उसे हजम होने के लिये जितना समय लगेगा वो तो लगेगा ही।[4]

---

१ श्री छन्नूलाल मिश्र, प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा प्राप्त, बनारस, २२.२.८९
२ पंडित जसराज, " " " ", बम्बई, १४.१०.८९
३ हफीज़ अहमद खान, " " " ", दिल्ली, २५.२.८८
४ यशवंत बुआ जोशी, " " " ", बम्बई, १२.१०.८९

अजयपोहनकर –

अजय पोहनकर की युवा पीढ़ी के श्रेष्ठ प्रस्थापित कलाकारों में आज गणना है। आपने अपनी माताजी सुशीला पोहनकर से शिक्षा पाई है। संगीत शिक्षा में रियाज़ का स्थान आपकी दृष्टि में बहुत महत्वपूर्ण है। रियाज़ से गायन अथवा वादन चमकता है एक पालिश सी होती है, हरकतें साफ हो जाती हैं। पर सोच समझकर किया जाने वाला रियाज़ ही लाभदायक होता है। आपका कथन है कि बिना-सोचे-समझे १०-१२ घंटे रियाज़ करने से ३-४ घंटे का सोच-समझकर किया गया रियाज़ अधिक लाभदायक होता है।[1]

राजन, साजन मिश्र –

रियाज़ की ही यह विधा है। समझना ही पहले मुश्किल है। समझना ही रियाज़ है। रियाज़ ५-६ घंटे होना ही चाहिये।[2]

सरला भिड़े –

आवाज़ में बुलंदी और कस लाने के लिये रियाज़ की आवश्यकता होती है। रियाज़ स्वास्थ्य व आवाज़ के धर्म के आधार पर कितनी देर किया जाय निश्चित किया जाय। लोचदार आवाज़ को कम रियाज़ की आवश्यकता होगी जबकि प्लेन आवाज़ को अधिक समय तक रियाज़ की आवश्यकता होगी। सुनने से जो संस्कार होते हैं वे मीडिया के कारण इतने बढ़ गये हैं कि सुन-सुनकर गले पर भी संस्कार हो जाते हैं। चार-पाँच घंटे का रियाज़ फिर भी आप आवश्यक समझती हैं।[3]

---

1 अजय पोहनकर, प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा प्राप्त, बम्बई, १४.१०.८८

2 राजन साजन मिश्र, " " " ", दिल्ली, २५.२.८८

3 सरला भिड़े , " " " ", बम्बई, १२.१०.८८

(द) जीविकोपार्जन की समस्या –

शिक्षा संबंधी जिन कठिनाइयों का सामना आज भारतीय संगीत को करना पड़ रहा है, शायद वैसा अन्य विषय और कला को नहीं। यों सरसरी तौर पर देखने में लगता है कि आधुनिक युग में शास्त्रीय संगीत का प्रचार और शिक्षण बहुत व्यापक हो गया है। और एक दृष्टि से यह सही भी है आज शास्त्रीय संगीत के जितने समारोह आयोजित किये जा रहे हैं, जितने विद्यालयों, विश्वविद्यालयों में संगीत शिक्षा दी जा रही है सम्पूर्ण इतिहास में ऐसी देखने को नहीं मिलती। लेकिन यह बड़ी अजीब बात है कि इतने पर भी ये शिक्षण संस्थायें अच्छे व प्रभावशाली मंचीय कलाकारों की जन्मभूमि नहीं बन पा रही हैं।

इस संबंध में संस्थागत-शिक्षण-पद्धति के पक्ष में एक तर्क दिया जाता है; कहा जाता है कि जब विश्वविद्यालयों में साहित्य के शिक्षण का उद्देश्य कवि, कहानीकार, या उपन्यासकार बनाना नहीं माना जाता तब संगीत-शिक्षा से ही कलाकार बनाने की उम्मीद क्यों की जाती है? तर्क अच्छा है, लेकिन उतना मजबूत नहीं। साहित्य और संगीत को हम एक तराजू में रखकर नहीं तौल सकते। लिखे-पढ़े जाने की क्षमता साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है। संगीत की सबसे बड़ी समस्या यह है कि उसे एक सीमा तक ही लिखा-पढ़ा जा सकता है। दरबारी के गांधार को जब तक प्रत्यक्ष सुनकर और स्वयं गाकर महसूस नहीं कर लिया जाता, तब तक उसके लिखने और पढ़ने की कोई उपयोगिता नहीं। इससे स्पष्ट है कि विद्यार्थी को जब-तक संगीत के क्रियात्मक-पक्ष की पूरी तालीम नहीं दी जाती तब तक कोरे सिद्धांतों की चर्चा से उसका कोई लाभ नहीं होने वाला। इससे यह स्पष्ट है कि अगर

विश्वविधालयों ने भारतीय संगीत की शिक्षा का दायित्व अपने ऊपर लिया है तो उसकी क्रियात्मक तालीम का दायित्व भी उन्हीं का है। फिर क्या कारण है कि विश्वविधालय की शिक्षा संगीत के विधार्थी में उन रचनात्मक क्षमताओं का विकास नहीं कर पा रही जिनका एक अच्छे कलाकार में होना आवश्यक है। यह सवाल एक सीमा तक हमारी सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थिति से भी जुड़ा है। दरअसल आज जिसे हम शास्त्रीय संगीत कह रहे हैं, उसका विकास जिन सामंतीय परिस्थितियों में हुआ है वे आज से एकदम भिन्न थीं। शास्त्रीय संगीत के गुण ग्राहक तब राजा महाराजा थे। संगीतज्ञों को राजदरबार में आश्रय मिलता था, वहीं उनके शिष्यों का तथा उनका पालन-पोषण होता था। अतः तालीम और रियाज़ के जैसे अवसर उन परिस्थितियों में उपलब्ध थे वैसे आज नहीं हैं। तब कलाकारों का भविष्य उतना अनिश्चित नहीं था जितना की आज। बड़े-बड़े राजदरबार अच्छे उस्तादों को अपनी शोभा बनाने के लिये उत्सुक रहते थे। बस एक बार ऐसे उस्ताद की शागिर्दी मिलने पर ही सारा जिवन सुरक्षित हो जाता था। आज संगीत साधक विधार्थी को वैसी सुविधा प्राप्त नहीं है। पहले राजा तथा बादशाह कलावंतों और विधावंतो को आश्रय देना अपनी और राज्य की प्रतिष्ठा समझते थे। इन्हीं लोगों के आश्रय के कारण ३०-३०, ४०-४० साल सीखना, मेहनत करना, शागिर्द तैय्यार करना इन कलावंतों द्वारा संभव हो पाता था। यह कलासंवर्धन की एकनिष्ठ तपस्या; खाना-पीना और कपड़े-लत्ते की कमी न होने से संभव हो सकी। इस प्रकार का आश्रय पाने पर आज भी कला-साधक उम्र भर मेहनत साधना कर सकते हैं और फिर आज भी वैसे ही युगप्रवर्तक कलावंतों का जन्म संभव होगा। इन कलाकारों को प्राप्त राज्याश्रय की कुछ झलकें देखकर ही अनुमान हो सकता है कि

उन्हें क्या सुविधायें प्राप्त थीं।

'महाराजा दौलतराव सिंधिया के दरबार में बड़े मुहम्मदखाँ जैसे प्रतिभाशाली कलाकार का सहयोग प्राप्त था। ये हद्दू-हस्सू खाँ के समकालीन थे। इन्हें राज्य की ओर से सम्पूर्ण सम्मान प्राप्त था। राज्य की ओर से १२००/- मासिक वेतन आपकी प्रतिभा की मान्यता के स्वरूप ही मिलता था। विशेष अधिवेशनों में आप राजदरबार में सदैव हाथी पर जाया करते थे।'१

रज़बअली खाँ —

'शाहू छत्रपति भी एक अजब व्यक्ति थे। इनके शासनकाल में कई पहलवान महाराष्ट्र में हुये। संगीत के प्रति भी उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किये। उन्होंने अल्लादिया खाँ और हैदरबख्श जैसे गुणी कलाकारों को ढूंढकर उन्हें कोल्हापुर का ही निवासी बना दिया, इस प्रकार उनकी विद्या का लाभ समस्त महाराष्ट्र को कराया। रज़बअली खाँ कहते हैं कि उनकी (रज़बअली खाँ) मेहनत के लिये शाहू छत्रपति ने कोई ३५००० हजार रु. से भी अधिक रकम खर्च की होगी।

तैयारी होने पर शाहू छत्रपति ने रज़बअली खाँ को बुलाकर कहा, "तुम अच्छी तरह तैय्यार हो गये हो इसलिये अब फिरती (दौरे) पर जाओ समस्त भारत में भ्रमण करके, भिन्न-भिन्न गायकों को अपना गाना सुनाओ और उनका गाना सुनो। मैं तुम्हें सब राजाओं के नाम पत्र और खर्च के लिये रुपये भी देता हूं।" इसके बाद रज़बअली खाँ दौरे पर निकले और भिन्न-भिन्न राजदरबारों में उनका गायन हुआ।२

---

१ 'भारतीय संगीत के सितारे', संगीत १९४९, अक्टूबर, पृ. ५६५

२ 'खाँ साहब रज़ब अली खाँ, संगीत कला विहार' १९४९, अंक ३, पृ. १६

आज कितने संगीत के विद्यार्थियों को इस प्रकार का संरक्षण प्राप्त है। सरकार जो भी स्कालरशिप के रूप में आज विद्यार्थियों को दे रही है वो उनके जीवनयापन के लिये भी आज की महँगाई को देखते हुये पर्याप्त नहीं है। आज प्रस्थापित नवोदित कलाकारों की जीवनी देखने पर भी हमें किसी को रज़बअली जैसी सहायता मिलती कहीं से नहीं दिखती। आज जो भी कलाकार प्रस्थापित हो रहे हैं वे अपने बल पर या अपने परिवार के प्रोत्साहन पर ही आगे बढ़ पा रहे हैं। संगीत-साधना की यात्रा में उन्हें जो कठिनाईयाँ उठानी पड़ती रही हैं उन्हें देखकर बिरले ही इस क्षेत्र में आने का साहस करते हैं। तब यदि आज आर्थिक विषमताओं के कारण पहले जैसे कलाकारों का निर्माण नहीं हो पा रहा है तब इसमें किसी कलासाधक अथवा उसके शिक्षक का क्या दोष है। इसका उत्तरदायित्व हमारे समाज और सरकार पर है। उन्हें कलासाधकों और संगीत गुरुओं की आर्थिक समस्याओं का निराकरण करने के लिये ठोस कदम उठाने होंगे।

नत्थे खाँ ग्वालियर नरेश जयाजीराव शिंदे के गायन-गुरु थे। दूसरे दरबारी गुरुओं की तरह उन्हें भी महाराज ने आश्रय दिया था। परंतु यह बात नत्थे खाँ को चुभने लगी कि मैं महाराज का गुरु और मुझे भी दूसरे गायकों की श्रेणी में ही रखा जा रहा है। एक प्रत्यक्ष तालीम के समय ही वे रूठकर बैठ गये; महाराजा ने पूछा, "खाँ साहब आज ऐसे नाराज क्यों, आपकी सेवा में कुछ कमी हुई है क्या?" नत्थे खाँ बोले, "महाराज मैं तुम्हारा गुरु हूँ पर दूसरे गवैय्यों में और मुझमें क्या फर्क है। दूसरे गवैय्यों से मेरा सम्मान अलग नहीं है। दूसरे गवैय्ये जिस प्रकार राजमहल चलकर आते हैं वैसे ही मैं भी आता हूँ। मैं महाराज का गुरु हूं ऐसा मुझे लगता ही नहीं।" महाराज

बोले, " खाँ साहब कल से आप दरबारी कलावंतों की अपेक्षा अलग हैं ऐसी व्यवस्था करूँगा आप क्रोध न करें।" दूसरे दिन से नत्थे खाँ के दरवाज़े पर सरकारी खर्च से हाथी खड़ा हो गया। महाराज को सिखाने नत्थे खाँ हाथी पर आने लगे।"[1]

आज कितने गुरुओं को इस प्रकार की सुविधायें प्राप्त हैं। जो सरकारी विद्यालयों अथवा विश्वविद्यालयों में हैं उन्हें तो वेतनमान ठीक मिल रहा है। पर दूसरे शिक्षकों की स्थिति दयनीय है। यद्यपि उपरोक्त प्रकार की सुविधायें शिक्षकों को प्रदान की जानी आज की परिस्थितियों में असंभव हैं; फिर भी उन्हें जीवनयापन की सुविधाओं से तो युक्त किया ही जा सकता है। इसके लिये सरकार को चाहिये कि वह जिन बड़े कलाकारों के पास प्रतिभाशाली छात्रों को छात्रवृत्ति देकर सीखने के लिये भेजे उन कलाकार शिक्षकों को भी उचित पारिश्रमिक दे।

इस संबंध में स्वयं विलायत खाँ का वक्तव्य यहाँ उल्लेखनीय है — " जिन्हें इल्मे मौसिकी में कामयाब जानकारी हासिल करने की ख्वाहिश है उन्हें सरकार चुने, वज़ीफे दे और गाने-बजाने वालों को काफी रुपये दे जिससे वे अपनी गुज़र-बसर कर सकें। मैं समझता हूँ कोई वजह नहीं, लोग क्यों नहीं सिखलायेंगे। मुझे खुद अगर ऐसा मौका मिलता तो मैं वादा करता हूँ कि हर पाँच साल बाद मैं दो-तीन ऐसे शागिर्द निकालता जिनका बजाना सुनकर लोगों को मज़ा आ जाता।"[2]

संगीत-जगत में आज नवोदित कलाकारों की निर्मिति को लेकर और भविष्य को लेकर काफी चिन्ता व्याप्त है। पर जीविकोपार्जन की समस्या जब तक नहीं हल होती कलाकार या संगीत-शिक्षार्थी चाहकर भी कुछ नहीं कर सकते।

---

१ नाद, गोपालकृष्ण भोबे, पृ. १५८

२ 'संगीत साधकों से भेंट' संगीत १९५९, जुलाई, पृ. ४१

उन थोड़े से नवोदित प्रस्थापित कलाकारों और आगे बढ़ रहे संगीत-साधकों के अदम्य साहस की दाद देनी होगी जो अपने बलबूते पर आगे बढ़ रहे हैं। इस संबंध में चाहकर भी कुछ न कर सकने की स्थिति को विलायत खाँ साहब ने बड़े अच्छे शब्दों में व्यक्त किया है — 'यह पूछे जाने पर कि खाँ साहब गाने-बजाने वालों की माँग इतनी अधिक है कि उन्हें कानफ्रेन्सों में बुलाने या उनसे सीखने की हिम्मत कौन करे?' तब खाँ साहब ने जो उत्तर दिया वह इस प्रकार है — "जी हाँ इस मामले में मैं भी बहुत बदनाम हूँ लेकिन ज़रा गौर तो कीजिये हमें कोई तनख्वाह नहीं मिलती, आज मिला कल मिलेगा या नहीं मालूम नहीं। कानफ्रेन्सों की तादाद है कितनी? फिर इन कानफ्रेन्सों में सारे गाने बजाने वाले बुलाये भी नहीं जा सकते। अत: दो-चार कानफ्रेन्सों और ट्यूशनों से ही साल भर गुज़र-बसर करना पड़ता है। इसके अलावा गाने-बजाने की ताकत समाप्त होने पर हमें बुढ़ापे में पेन्शन भी नहीं मिलती, रियासतों की तरह कोई सहारा भी नहीं। यदि बीच में ही किसी हादसे की वजह से मेरे हाथ पैर बेकार हो जायें या मैं न रहूँ तो मेरे बीबी बच्चों की परवरिश न तो कान्फ्रेन्स वाले कर सकेंगे, न सुनने वाले, न स्कूल कॉलेज वाले; वे चाहें तो भी वक्त इतना नाजुक है ऐसा मुमकिन न होगा। अपनी और बीबी बच्चों की जिम्मेदारी मेरे ऊपर है अब आप ही बताइये हम क्या करें?"[1]

पहले संगीत-साधकों और कलाकारों के सम्मुख रोज़ी-रोटी की यह समस्या न होने के कारण वे निश्चिन्त होकर संगीत-साधना में लीन रहते थे। आज वह समय नहीं रहा जब, "जयाजीराव महाराज शिन्दे से नत्थू खाँ, हद्दू और हस्सू खाँ को ५००/- रुपये महावार तनख्वाह मिला करती थीं। और प्रत्येक मुजरे के ५००/- रुपये दिये

---

1 'संगीत साधकों से भेंट' संगीत १९३९, जुलाई, पृ. ४१

जाते थे।"[1] उस ज़माने में 500/- की क्या कीमत थी इसी आधार पर हम अनुमान लगा सकते हैं कि इन कलाकारों के ठाठ भी उस समय किन्हीं रईसों से कम नहीं थे। तनख्वाह के अलावा भी जब-तब इन्हें इनाम मिला ही करते थे।

रामसहाय तबला-वादक – 'नवाब वाजिद अली के दरबार में सात दिन का एक संगीत समारोह आयोजित था इसमें मोदू खाँ के शिष्य रामसहाय के तबला-वादन द्वारा नवाब इतने खुश हुये कि सातों दिन उन्हें नवाब के सामने तबला-वादन करना होता था। आठवें दिन उनका तबला-वादन सुनकर चींटी भी प्रवेश न कर सके इतनी भीड़ हो गयी। रामसहाय को नवाब साहब ने दो खनहार, चार हाथी और हज़ारों रुपये इनाम में दिये।'[2]

नत्थे खाँ –

'एक दिन नत्थे खाँ दरबार की महफिल में ऐसा गाये कि महाराज का मन प्रसन्न हो गया। महाराज ने नत्थे खाँ के गले की खूब तारीफ की पर तारीफ सुनकर नत्थे खाँ खुश नहीं हुये वे तुरंत बोले, "महाराज आपने मेरे गले की तारीफ की पर इस गले से मुझे रोज़ पीतल के प्याले में पानी पीना पड़ता है और इससे मेरा गला मन के अनुसार काम नहीं करता है।" महाराज खिलखिलाकर हँसे। नत्थे खाँ क्या बोलने वाले थे उन्हें समझ में आ गया। दूसरे दिन नत्थे खाँ के द्वार पर दो पिटारे लेकर एक गाड़ी खड़ी हुई। उन पिटारों को जब नत्थे खाँ ने खोलकर देखा तो वे आश्चर्यचकित रह गये। उन पिटारों में अनेक प्रकार के चांदी के प्याले और भिन्न आकारों के चांदी के बरतन थे।'[3]

---

1 'शास्त्रीय संगीत का लोकप्रिय होना आवश्यक है' संगीत १९५५, जून, पृ. ४०

2 नाद, गोपालकृष्ण भोबे, पृ. ३६

3 नाद, गोपालकृष्ण भोबे, पृ. १५८

पहले कलाकार की माँग होते ही पूरी की जाती थी आज कलाकार को अपना उचित सम्मान प्राप्त करने के लिये भी अनेकों संघर्ष करने पड़ते हैं।

खाँ साहब घग्घे खुदाबख्श –

'उन दिनों रामपुर राज्य में यह नियम था कि नवाब साहब जैसे ही किसी गवैये की तारीफ करें उसी वक्त उनको इनाम दिया जाय। खाँ साहब घग्घे खुदाबख्श के गायन पर नवाब कल्बे अली खाँ इतने प्रभावित हुये कि दो-तीन घंटे तक लगातार इसी ढंग से नवाब साहब गाना सुनते रहे और हर तारीफ पर खाँ साहब को ५००/- की एक थैली इनाम में मिलती। इसके बाद नवाब साहब ने दो हफ्ते तक इन्हें अपने पास रखा और कई बार इनका गाना सुनकर बहुत खुश हुये। चलते समय भी इन्हें कई इनाम, पुरस्कार दिये।'[1]

मियाँ अमृत सेन –

'तानसेन के वंशजों में मुरादसेन के वे नाती थे। ये प्रसिद्ध सितार-वादक थे। अमृत सेन की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। बड़े-बड़े दरबारों में नौकरी करने के कारण उनकी तनख्वाह काफी अच्छी थी। प्रथम ये जयपुर नरेश राजाराम के यहाँ थे। राजारामसिंह उनसे बड़े खुश थे। उन्होंने अमृतसेन को बड़े अधिकार प्रदान किये थे। दरबार की ओर से उनकी सेवा में नौकर-चाकर, मशालची, रथ आदि के अतिरिक्त जागीर भी उन्हें दी गयी थी। राजा रामसिंह की मृत्यू के बाद वे ललर के नवाब को संगीत सिखाते थे। वहाँ भी उनकी वही शानो-शौकत थी।'[2]

आज से ५० साल पहले भी जो कलाकार थे वे किसी न किसी रियासत या दरबार के आश्रित थे। एक

---

१ संगीतज्ञों के संस्मरण, विलायत हुसैन खाँ, पृ. १०२

२ मियाँ अमृतसेन, संगीत सितार, संगीत कला विहार १९५४, नवम्बर, पृ.२३

ही रियासत या दरबार में कई कलावंतों को प्रश्रय मिलता था इन कलावंतों तथा उनके परिवारों यहाँ तक कि शिष्य-समुदाय का भी समस्त भार ये रियासतें अथवा दरबार ही उठाते थे। राज्य के किन्हीं बड़े रईसों की तरह ही इन कलावंतों के ठाठ थे। इन्हें रोज़ी रोटी की कोई चिन्ता नहीं थी। इन कलावंतों का काम था रियाज़ करना, बादशाह अथवा महाराज को अपने गायन अथवा वादन से प्रसन्न करना, विशिष्ट अवसरों पर प्रदर्शन करना, और शिष्य वर्ग को शिक्षा देकर कलावंत तैय्यार करना। दुनिया के फिर और किसी काम से इन्हें कोई सरोकार नहीं था। इस प्रकार की सुविधायें प्राप्त होने के कारण ही ये कलाकार कला की ऊँचाइयों को पा सकने में तथा गुणी शिष्य-वर्ग को कलाकार बनाने में सफल हो सके थे; और शिष्य भी साधना का मार्ग निश्चिन्त होकर तय कर सके थे।

परंतु आजादी के बाद इन रियासतों के भारत के गणराज्य में विलय होने के बाद इन कलावंतों को बड़े बुरे दिनों का सामना करना पड़ा और इनके सामने जीविकोपार्जन की समस्या जो उस समय खड़ी हुई थी आज भी उसी अवस्था में है। यद्यपि भारत सरकार ने इस संबंध में कई कार्य किये पर ये कदम पर्याप्त नहीं समझे जा सकते हैं। इस दौर में इन कलाकारों को बड़े दुर्दिनों का सामना करना पड़ा। इनमें से कुछ झलकियाँ जो प्राप्त हो सकी हैं यहाँ दी जा रही हैं —

बीनकार उस्ताद सादिक अली खाँ — ने जिन शब्दों में अपनी व्यथा व्यक्त की है वह सोचनीय है। उनका अंतिम समय चिन्ताओं में बीता। एक सज्जन ने कहा, "खाँ साहब आप पाकिस्तान क्यों नहीं चले जाते?" आँखों में आँसू भरकर वे बोले, "अगर कव्वाल होता तो चला जाता और वहीं ताली बजाकर अपना पेट भर लेता।

पूजा का साज़ बजाता हूँ, आज इसकी कद्र यहाँ भी जैसी होनी चाहिये वैसी नहीं है तो वहाँ क्या करूँगा। हिन्दुस्तान की मिट्टी में पैदा हुआ हूँ वहीं मिलना है।" इससे बड़ी विडम्बना कलाकार की स्वतंत्र भारत में और क्या हो सकती है। उस्ताद ६१ वर्ष की आयु में दिवंगत हुये परंतु उन्हें राष्ट्रपति-पुरस्कार से सम्मानित किया जाना अवशिष्ट ही रह गया। वे सर्वथा इसके पूर्ण अधिकारी थे।१

रसूलनबाई —

'पद्मश्री से विभूषित गायिका रसूलनबाई भी दर-दर की मुहताज हो गयी थीं। बूढ़ी गायिका और उनके परिवार के लिये दो जून की रोटी जुटाना भी मुश्किल हो गया था बिना राज्याश्रय के। उनके पास न रहने के लिये घर था न पहनने के लिये कपड़े। एक भेंटवार्ता में अपनी व्यथा को व्यक्त करते हुये इस वयोवृद्ध गायिका ने अपना वक्तव्य इस प्रकार दिया है, "मेहरबानी करके इंदिराजी से मेरे लिये कुछ कहिये मैं ऊँची कलाकार हूँ। मेरी मशहूरियत और नाम भी काम न आ सके। उनसे कहो मेरे लिये एक छोटा मकान ही काफी है। सरकार के पास इतने मकान हैं कम से कम एक घर तो दे ही सकते हैं। मेरे मरने के बाद मेरी तस्वीरें छापी जायेंगी, अफ़सोस जाहिर किया जायेगा क्या मेरे ज़िंदा रहते वे मेरी कुछ मदद नहीं कर सकते।"

रसूलन बाई ने सैकड़ों लोगों को संगीत शिक्षा दी पर अपने किसी बच्चे को उन्होंने संगीत की शिक्षा नहीं दी। इस संबंध में पूछे जाने पर उनका जवाब था, "मैं अपनी लड़कियों को गाना सिखाना नहीं चाहती क्योंकि उन्हें भी मेरी तरह भूखों मरना पड़ेगा।"२

---

१ संगीत, १९६५ जुलाई, 'उस्ताद सादिक अली खाँ बीनकार' पृ. ४६

२ संगीत, १९६२ जुलाई, 'रसूलन बाई एक भेंटवार्ता' पृ. ६४

सुरेश बाबू माने –

बाबूरावजी पराजित कलाकार थे। परिणामत: धन का वात्सल्य उन्हें कम रहा। सुबह से शाम तक जो इनी-गिनी तालीमें होती थीं उसीमें वे मशगूल रहते थे। इससे पल्ले क्या पड़ता? घर में दरिद्रता का साम्राज्य, गृहस्थी, संतान-परिवार बड़ा। रसोई में दाल है तो नमक नहीं, आटा हो तो चावल नहीं कपड़े हमेशा मैले और फटे-सिले। सिर पर बालों की विपुलता, पर सँवारे जाते हाथों की ऊँगलियों से क्योंकि कंघी भी मयस्सर नहीं होती थी। कई दिनों की जीर्ण-शीर्ण धोती आसानी से बैठे-उठे फट जाती, सिर पर टोपी रहती थी जिसके अंदर सूई-धागा टंका रहता था, फटी धोती को खुद ही तुरंत ठीक कर देते थे। कभी-कभी तो धोती एक ही रहती, स्नान होने पर एक-आध कपड़ा लपेट लेते और धोती को हिलाहिलाकर सुखा देते।

इस विपुल दरिद्रता से बाहर निकलने की जो कोशिश उन्होंने की वह दुनिया से न्यारी थी। वह भी किमया की ताँबे अथवा राँगे से सोना बनाकर झटपट अमीर बनने की। आगे चलकर यह भूत उनके सिर पर इस कदर सवार था कि उन्हें दूसरी बात सूझती ही नहीं थी। इसी व्यसन के कारण आगे चलकर उनकी मृत्यु हो गयी।

सुरेश बाबू के शिष्यों में माणिक वर्मा, प्रभा अत्रे, मेनका शिरोडकर, विट्ठलराव देशमुख, अभिनेता गायक वसंतराव देशपांडे, बालासाहब अत्रे, अरविंद मंगरूळकर, दत्तोपंत देशपांडे, भावगीत गायक गजानन वाटवे आदि थे। इनमें से इनके लगभग सभी शिष्य प्रसिद्धि के शिखर पर हैं। पर स्वयं सुरेशबाबू को जीवनयापन के लिये भी धन पर्याप्त नहीं था।[1]

---

1 संगीत कला विहार, १९६६ मई, पृ ११२

उस्ताद इलियास खाँ —

मेरे उस्ताद तथा वालिद सखावत हुसैन खाँ का सरोद-वादन सुनकर उनसे स्वर्गीय भातखंडे जी और ठाकुर साहब ने कहा कि हम लोग लखनऊ में एक संगीत विद्यालय खोल रहे हैं जिसमें आपको सितार एवं सरोद के शिक्षक के पद पर आसीन करना चाहते हैं। मेरे वालिद इस बात से बहुत खुश हुये कि उन्हें एक संगीत विद्यालय में संगीत की सेवा करने का मौका मिलेगा। इतनी बड़ी भातखंडे जी और ठाकुर साहब जैसी हस्तियों ने मुझे वहाँ आने के लिये आमंत्रित किया है। मेरे वालिद को साठ रुपये महीने पर इस विद्यालय में सितार एवं सरोद के शिक्षक के पद पर आसीन किया गया।

प्रारंभ में तो साठ रुपये महीने में मेरे वालिद घर के खर्चों का बंदोबस्त कर लेते थे पर जैसे-जैसे हमारा परिवार बढ़ता गया ये साठ रुपये की तनख्वाह कम पड़ने लगी। मेरे वालिद परेशान रहते थे। हम लोग स्कूल में पढ़ रहे थे हमारी बहनें घर पर पढ़ती थीं। अतः जो मौलवी साहब घर में मेरी बहनों को पढ़ाने आते थे उनकी फीस तथा हम लोगों की स्कूल की फीस देने से भी मेरे वालिद मजबूर हो गये।

महीने की पंद्रह तारीख को तनख्वाह मिलती थी। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि दो-दो, तीन-तीन महीने तनख्वाह नहीं भी मिलती थी। एक बार तो ऐसा हुआ कि छः महीने तनख्वाह नहीं मिली, जिससे मेरे वालिद बनिये के और जहाँ से सब्जी आती थी उसके कर्ज़दार हो गये। नौबत यहाँ तक पहुँची कि उन लोगों ने मेरे वालिद का घर से निकलना दूभर कर दिया। जिससे मेरे वालिद मेरी माँ का बुरका ओढ़कर घर के पीछे से निकल कर आते थे तब कैसरबाग में बुरका उतारकर फिर कालिज में पहुँचते थे क्योंकि उन लोगों की दुकानें मेरे घर और कालिज के

रास्ते पर ही पड़ती थीं। जब सब कर्ज़ देने वालों ने राशन आदि देना बंद कर दिया तब मेरे वालिद राय उमानाथ बली साहब से रोज़ आटा, दाल और नमक मिर्च वगैरह बाँध कर तथा सुबह चाय के लिये दो आने पैसे लेकर कॉलेज के बाद घर आते थे तब खाना बनता था, उस वक्त तक हम सब भाई-बहन सो जाया करते थे। वो हम लोगों को उठाकर खाना खिलाते थे।

यह सिलसिला बहुत दिनों तक चला। इन कारणों से हमारी शिक्षा भी नहीं हो पाई तथा पैसा न होने के कारण हमारी बहनों की शादी भी अच्छे घरों में नहीं हो पायी; जिसका अंजाम हम अभी तक भुगत रहे हैं। जब सन् ३५ में मेरे वालिद का इंतकाल हुआ तो उनकी तनख्वाह दो ढाई सौ रुपये थी।

यही हाल उस्ताद हामिद हुसैन खाँ का भी था जो इसी संगीत विद्यालय में सितार के शिक्षक थे। उनका एक वाकया मुझे याद आ रहा है कि उन्होंने मेरे वालिद को एक परचा लिखकर भेजा कि भाई काफी दिनों से तनख्वाह नहीं मिली है मैं जानता हूँ कि तुम परेशान हो मैं तुम्हारी परेशानी में इजाफा नहीं करना चाहता पर मजबूरन यह करना पड़ रहा है। कल रात से मेरे बीबी बच्चे भूखे हैं और बनिये ने उधार देना बंद कर दिया है। बहुत मुश्किल से उसने आधा सेर आलू एक घंटे ठुमरी और तराने सुनकर इनाम में दिये हैं। अगर भाई तुम्हारे पास कुछ आटा, चावल या पैसे हों तो इस लड़के के साथ जो परचा लाया है भिजवा देना। अगर आज कुछ खाना न मिला तो मैं चलकर कॉलेज भी नहीं आ सकता।

मेरे वालिद ने उसके जवाब में यह लिखकर उन्हें भेजा कि भाई हामिद हुसैन खाँ रात राय साहब के यहाँ से थोड़ा आटा दाल लाया था जो उसी वक्त पकाकर खा लिया अब इस वक्त का अल्ला मालिक है।

संगीत जगत में जीविकोपार्जन की इन कठिनाइयों के कारण ही रसूलनबाई जैसी विदूषी संगीतज्ञ महिला रत्न नहीं चाहती कि उसकी संताने इस क्षेत्र में पूर्ण रूप से जीवन समर्पित करें। जब स्वयं उच्च श्रेणी के कलाकार ही संगीत-साधना से मुख मोड़ें तो फिर कौन साधारण जन इस दिशा में आगे बढ़ेगा। यद्यपि इतनी कठिनाई होने पर भी कला-साधक आगे बढ़ रहे हैं। पर जीविका के लिये इन्हें संगीत-साधना के साथ दूसरा कार्य भी करना ही पड़ता है। बिना नौकरी या व्यवसाय किये जीविका कैसे चले? नौकरी या व्यवसाय करने पर समय की कमी, समय की कमी के कारण संगीत-साधना के लिये फुर्सत नहीं, फुर्सत नहीं तो रियाज़ नहीं रियाज़ नहीं तो कलाकार नहीं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद विशेषकर संगीत सेवियों के लिये वांछित सुविधायें नहीं रहीं। जिन्होंने कला के लिये सम्पूर्ण जीवन समर्पित किया उन्हें लेने के देने पड़ गये। अनेक कलाकारों को घोर आर्थिक यातना भोगनी पड़ी है। महाराजा और नवाबों के समय में कलाकारों को वज़ीफे, जागीरें दी जाती थीं, ताकि उनके पीछे आर्थिक समस्या न लगी रहे वे निश्चिन्त होकर कला की साधना कर सकें। किन्तु आज सरकार की ओर से कोई ठोस कदम इस दृष्टि से नहीं उठाये जा रहे हैं। दुख तो इस बात का है कि उनके पास जीवन यापन के लिये अन्य कोई उपयुक्त माध्यम भी नहीं है।

संगीत के जलसों और कान्फ्रेन्सों से नियमित आय होना असंभव सा है। इसके अतिरिक्त इन जलसों और कान्फ्रेन्सों में उन्हीं कलाकारों को आमंत्रित किया जाता है जिनका कि नाम हो चुका है। इन प्रस्थापित कलाकारों की आय भी इन माध्यमों से नियमित नहीं होती है। क्योंकि कान्फ्रेन्सों में सभी कलाकारों को बुलाया नहीं जाता और जलसे होंगे या नहीं यह निश्चित नहीं होता। इसके

अतिरिक्त शास्त्रीय संगीत के कलाकारों को जलसों में मिलने वाला पारिश्रमिक भी अन्य जलसों की अपेक्षा कम रहता है। यदि सुगम संगीत (गज़ल आदि) या फिल्म संगीत के जलसे में कलाकार को २५०००/- मिलेंगे तो शास्त्रीय संगीत के कलाकार को पाँच या दस हज़ार देने में भी आयोजकों के सम्मुख कठिनाई आती है। और जो कलाकार गुमनामी के अंधेरे में हैं उन्हें तो इस माध्यम से भी किसी प्रकार की आय होना संभव नहीं होता।

संगीतसेवियों की आय का दूसरा माध्यम है दूरदर्शन, आकाशवाणी। इन माध्यमों से भी केवल उन्हीं कलाकारों को आय हो सकती है जो प्रकाश में हैं। इन माध्यमों में भी राजनीति ने प्रविष्ट होकर गंदगी मचा रखी है। जिन कलाकारों की जान-पहचान है जो खुशामदी हैं उन्हें तो इन माध्यमों पर आने के अवसर प्राप्त होते हैं। पर बाकी कलाकार इनसे दूर ही रहते हैं। इसके अतिरिक्त नवोदित कलाकारों को सामने लाने का इन माध्यमों द्वारा कोई खास प्रयास भी नहीं होता है। आकाशवाणी पर तो फिर भी युववाणी कार्यक्रम के अंतर्गत नवोदित कलाकारों को सामने आने का अवसर प्राप्त हो सकता है; पर दूरदर्शन पर इस प्रकार के कार्यक्रम की भी कोई व्यवस्था नहीं है। फिर इन माध्यमों द्वारा कलाकार को जो आर्थिक सहायता मिलती है वह भी एकदम न्यून है।

कलाकार की आय का तगड़ा माध्यम फिल्म उद्योग बन सकता है, किन्तु फिल्म उद्योग में कला का न्यायोचित मूल्यांकन नहीं हो पाता। फिर वहाँ भी ग्रुपबाज़ी है और फिल्म वाले स्वयं किसी शास्त्रीय संगीतज्ञ से संबंध बनाना उचित नहीं समझते। उन्हें मात्र वे लोग चाहियें जो उत्तेजक संगीत दे सकें। यही कारण है कि पंडित रविशंकर जैसे कलाकार भी भारतीय फिल्म जगत में जम नहीं सके।

अब संगीत-सेवी के लिये आय का एकमात्र साधन है संगीत-शिक्षा द्वारा आय प्राप्त करना। यह संगीत

शिक्षा स्कूलों या विद्यालयों अथवा विश्वविद्यालयों के माध्यम से दे सकता है। यदि उसे सरकारी विद्यालयों अथवा विश्वविद्यालयों में संगीत-सेवा का कार्य मिल गया तब तो वह बहुत भाग्यवान् है। परंतु विडम्बना यह है कि स्वयं सेन्ट्रल स्कूल में संगीत शिक्षक के वेतनमान अन्य शिक्षकों से कम हैं। जब सरकारी स्कूलों की स्थिति यह है तब प्राइवेट संस्थाओं में विद्यार्थियों से पाँच-दस रुपये लेकर संगीत शिक्षा दी जाती है। इन संस्थाओं में कई शिक्षक काम करते हैं। उनको मिलने वाले वेतन का विचार किया जाय तो भयानक दृश्य दिखाई देता है। इसके लिये संस्थायें जिम्मेदार नहीं होती। क्योंकि इन संस्थाओं को शासन द्वारा दिया जाने वाला अनुदान नाममात्र का होता है और प्रतिवर्ष उनके द्वारा मिलने वाली रकम भी निश्चित नहीं होती। व्यक्तिगत जिम्मेदारी पर संगीत संस्था चलाने वाले शिक्षक को तो और कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। क्योंकि उसे न तो अनुदान की प्राप्ति है और न किसी धनी से देन का आधार। केवल विद्यार्थियों द्वारा दिये गये १०-५ रुपयों का उसे आधार प्राप्त होता है। तब जीवन भर केवल संगीत का व्यासंग करने वाला यह शिक्षक पूछताछ के लिये आने वाले किसी छात्र को नहीं छोड़ता — 'आप गाना सिखाते हैं?' 'हाँ', 'क्या आप सितार सिखाते हैं?' 'हाँ' फिर ऐसे अनेक विषयों के विद्यार्थी वर्ग में आते हैं और शिक्षक के कमरे अथवा क्लास में एक ओर गाने का पाठ चलता है तो दूसरे कोने में सितार का रियाज़ भी चलता है, तीसरे कोने में तबले की शिक्षा भी चलती है। और उदर निर्वाह के लिये शिक्षक को इस सर्कस को भी संभालना पड़ता है। इस स्थिति में हम संगीत के स्तर की कहाँ तक अपेक्षा कर सकते हैं।

इन परिस्थितियों में कितने लोग संगीत-साधना कर सकते हैं। कितने कलाकार आजकल सच्चे कलाकार होने का दावा कर सकते हैं। गृहस्थी की चक्की में

निरंतर पिसने वाले कलाकार से किसी चमत्कार-प्रदर्शन की आशा करना व्यर्थ है। दिन-रात ट्यूशन करने वाले कलाकार के हृदय में प्रविष्ट होकर देखिये कि उसके हृदय में कैसा हाहाकार मचा हुआ है। आज का कलाकार जीवन संघर्ष में इतना पिसा है कि अपने अस्तित्व के लिये अधिकांश समय व्यय करके भी वह देखता है कि उसका गुज़ारा कठिनता से हो रहा है। दिन भर के कठोर परिश्रम से क्लांत गायक अथवा वादक से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अपनी साधना के लिये दो-चार घंटे अतिरिक्त परिश्रम कर सकेगा। अध्यापन कार्य उसे इतना निचोड़ डालता है कि फिर वह कुछ नहीं कर सकता। अत: संगीत-साधक के लिये जीविका संचालन के लिये यह भी पर्याप्त साधन नहीं है। फिर वह करे क्या यह प्रश्न जटिलता से समक्ष उपस्थित होता है। उसके लिये अनिवार्य हो जाता है कि वह अन्य व्यावसायिक साधन खोज निकाले। दूसरी विषमता यह है कि कलाकार मात्र जीविका का भूखा नहीं होता है। जीविका से अधिक भूख उसे अपनी कला के विकास की होती है। इसलिये उसकी जीविका के लिये वही माध्यम चाहिये जो उसकी कला के साथ ताल-मेल रख सके। इस विरोधी वातावरण के कारण कला और व्यवसाय के बीच गहरी खाई बनी है। इन विषम परिस्थितियों के कारण अनेक ऐसे प्रतिभा सम्पन्न कलाकारों के उत्साह को नष्ट कर दिया है जिनसे भविष्य में बड़ी-बड़ी आशायें की जा सकती थीं।

शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में जीविकोपार्जन के आवश्यक साधनों की कमी के कारण ही अधिकतर विद्यार्थी और उनके अभिभावक उसे एक हल्के स्तर का विषय मानकर केवल इस अपेक्षा को लेकर संगीत की ओर मुड़ते हैं कि हमें कौन सा गाना-बजाना है। कुछ अभिभावक अपनी पुत्रियों को इसलिये संगीत विद्यालय में बिठा देते हैं कि विवाह के बाज़ार में एक और खास गुणवत्ता हो

जायेगी। अथवा जो विद्यार्थी किसी विषय में न चल सके उसे संगीत विद्यालय में दाखिल इस मान्यता के आधार पर किया जाता है कि गाना और रोना तो सभी को आता है अतः संगीत में तो यह चल ही जायेगा। इस अवस्था में किस संगीत-साधना की आशा की जाय।

आज के जमाने में संगीत की ओर आने वाला विद्यार्थी बहुतांश में गंभीर नहीं बल्कि छिछला होता है। आज की सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था तथा संगीत-कला के क्षेत्र में जीविकोपार्जन के आकर्षक साधनों के अभाव का यह फल है। आसपास के गतिमान जीवनक्रम में उलझा यह विद्यार्थी पाठशाला, कॉलेज, दफ्तर, घूमना-फिरना, खेलना आदि दैनंदिन कार्यक्रमों में से बड़ी मुश्किल से एक आध घंटा निकालकर गायन, वादन सीखने के आकर्षण से संगीत विद्यालय जाता है। विद्यालय में अध्ययन की अपेक्षा कलाई घड़ी पर ध्यान रखकर पढ़ने वाले विद्यार्थी ही अधिक होते हैं। शास्त्रीय संगीत सीखने में अत्यधिक कठिन कला है सातत्य, निष्ठा, परिश्रम न हो तो उसका साध्य होना कठिन होता है। सारेगम का प्राथमिक पाठ कंठस्थ करने के लिये यदि इस विद्यार्थी को लगातार दिया जाय तो फिर सोलहवें दिन वह विद्यालय को मुँह नहीं दिखाता। उसमें भी उसका मन सिर्फ संगीत के पीछे पागल रहता है। इससे संगीत-साधना की ओर मुड़ा हुआ बहुसंख्य विद्यार्थी छिछला होता है। श्रेष्ठ कला साधना के लिये आवश्यक लगन, श्रद्धा, परिश्रम आदि गुण आज के गतिमान जीवन में दुर्लभ होते जा रहे हैं, और संगीत-साधना तो इन गुणों के अभाव में सम्पन्न नहीं हो सकती।

संगीत-साधना को जीवन के अनिवार्य अंग के रूप में माना नहीं जाता। सच्ची लगन से सिखाने वाले सीमित ही हैं, तिसपर इस कला को हासिल करने की ज़िद से दीर्घकालीन परिश्रम करने वाले छात्र दुर्लभ। यद्यपि आज भी इस लक्ष्य को सामने रखकर जिन्होंने अपने जीवन की बाज़ी

लगायी उन्होंने श्रेष्ठ कलाकार का स्थान पाया है इनमें जीतेन्द्र अभिषेकी, प्रभाकर कारेकर, अजय पोहनकर, सरला भिड़े, अश्विनी भिड़े, जैसे अन्य कलाकारों की युवा पीढ़ी इस जिद से निर्माण हुई है। इस जिद को लक्ष्य बनाकर चलने वाले संगीत साधक विद्यार्थियों का पथ और भी कंटकाकीर्ण है। इन्हें किसी प्रकार की सहायता साधना के दौरान प्राप्त नहीं होती न ही यह निश्चित होता है कि इस साधना द्वारा इन्हें भविष्य में कुछ प्राप्त होगा ही, सब किस्मत के भरोसे ही होता है। सरकार द्वारा ऐसे संगीत साधक विद्यार्थियों को कुछ छात्रवृत्तियाँ अवश्य दी जा रही हैं। परंतु ये छात्रवृत्तियाँ संख्या में तो अल्प हैं ही साथ ही इनके द्वारा दी जाने वाली धनराशि भी अल्पअल्प है। दो-ढ़ाई सौ, चार सौ रुपये की छात्रवृत्ति के द्वारा इस महँगाई के युग में क्या हो सकता है। इतनी छोटी रकम में विद्यार्थी का स्वयं का जीवनयापन भी संभव नहीं होता तब वह संगीत शिक्षक की फीस कहाँ से जुटाये? या तबले वाले को कहाँ से रियाज़ के लिये पैसे दे? तिस पर ये छात्रवृत्तियाँ योग्य छात्रों को ही मिलती हों यह आवश्यक नहीं। भाई-भतीजावाद के आधार पर अधिकतर ये छात्रवृत्तियाँ ऐसे छात्रों को ही मिलती हैं जिनका संगीत जगत में कुछ करने का लक्ष्य नहीं अपितु येन-केन प्रकारेण हर तरह से अपने स्वार्थ की पूर्ति करना ही होता है।

शास्त्रीय संगीत की वर्तमान परिस्थितियों में, जीविकोपार्जन की समस्या कलाकारों के निर्माण में होने वाली कमी के लिये एक बड़ी सीमा तक उत्तरदायी है। इस समस्या के निराकरण के लिये संगीत शिक्षा में आमूल चूल परिवर्तन करना आवश्यक है। दूसरे इस समस्या को दूर करने करने के लिये शासन को भी क्रांतिकारी प्रयास करने होंगे। इसके लिये इस प्रकार की व्यवस्था करनी आवश्यक होगी संगीत-विद्यार्थी यदि कला की ऊँचाई को पार कर श्रेष्ठ कलाकार बनने में यदि समर्थ नहीं भी होता है तो

संगीत-शिक्षा द्वारा उसमें इतनी योग्यता अवश्य उत्पन्न होनी चाहिये कि वह अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकता की पूर्ति संगीत द्वारा प्राप्त जीविका के आधार पर कर सके। कलाकार न बन पाने की स्थिति में उसका भविष्य पूर्णतः अंधकारमय न होने पाये। इसके लिये संगीत कला के क्षेत्र में जीविकोपार्जन के आकर्षक साधनों की बहुतायत से व्यवस्था करनी होगी। इन साधनों से कला-साधक के जीवन को एक निश्चिन्तता प्राप्त होनी आवश्यक है ताकि वह कला-साधना के क्षेत्र में आगे भी उन्नति के अपने प्रयासों को जारी रख सके। यह न हो कि नून, तेल, लकड़ी के चक्कर में उसकी साधना का पथ बीच में ही अवरुद्ध हो जाये। शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में जीविका के ये आकर्षक साधन क्या हो सकते हैं, सरकार इस क्षेत्र में अधिक से अधिक क्या कर सकती है इसकी चर्चा हम, 'शास्त्रीय संगीत की वर्तमान आवश्यकताओं' वाले अध्याय में, 'विद्यालयीन शिक्षा पद्धति में सुधार' तथा 'कलाकारों को विशिष्ट सुविधायें प्रदान की जायें' इन अध्यायों के अंतर्गत करेंगे।

शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र से जीविकोपार्जन की समस्याओं का अंत होने पर तथा डाक्टरी, इंजीनियरिंग व्यवसायों की तरह उसमें व्यावसायिक सुरक्षा यदि हो तो जो कला साधक साधना कर रहे हैं वे निश्चिन्त होकर कला साधना कर सकेंगे। साथ ही अभिभावकगण भी इस कला की साधना के लिये अपने बालकों को प्रेरित करेंगे। और विद्यार्थीगण भी इस क्षेत्र में भविष्य की उज्जवलता को देखते हुये अधिक गंभीरता और परिश्रम से इस कला की साधना की ओर प्रवृत्त होंगे। इन प्रयासों से कला का स्तर भी ऊँचा उठेगा और आज ठोस कलाकारों की उत्पत्ति की कमी भी दूर हो सकेगी।

(क) फिल्म संगीत का प्रभाव

वर्तमान युग में यह धारणा दृढ़तर होती जा रही है कि शास्त्रीय संगीत की वर्तमान स्थिति (ह्रास) के लिये बहुत हद तक फिल्म संगीत की लोकप्रियता भी जिम्मेदार है। इस अध्याय में यह देखना है कि फिल्म संगीत पर शास्त्रीय संगीत का कैसा प्रभाव पड़ रहा है? और शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता बढ़ाने में फिल्म संगीत का कितना योगदान है? शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता बढ़ाने में हम फिल्म संगीत की कितनी सहायता ले सकते हैं।

आज के युग में प्रचार का सर्वोत्तम माध्यम सिनेमा है। अत्यधिक लोकप्रिय होने के कारण यह अपने में निहित प्रत्येक अच्छी-बुरी बातों को जनसाधारण में पहुँचा देता है। इसी तरह संगीत प्रचार का भी यह शक्तिशाली माध्यम है। यद्यपि संगीत प्रचार के लिये सिनेमा के अतिरिक्त आकाशवाणी, दूरदर्शन, ग्रामोफोन-रेकार्ड, कैसेट-प्लेयर आदि साधन भी हैं; परंतु चित्रपटों की बात ही कुछ और है। इसका मुख्य कारण यह है चित्रपटों में गीत चित्रपटों की कहानी के अनुरूप होते हैं और उस कहानी के अनुरूप चरित्र विशेष के लिये गाये गीतों में तदनुरूप नृत्य अथवा भावाभिव्यक्ति भी होती रहती है जिससे दर्शकों पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव चित्रपट निर्माण के उद्देश्य के अनुरूप अच्छा या बुरा दोनों प्रकार का पड़ सकता है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि चित्रपट आज के युग में संगीत-प्रचार का सशक्त साधन है।

चित्रपट संगीत का ५० सालों का प्रवास जितना दीर्घ है उतना ही उद्‌बोधक भी है। इन सालों के बीच शास्त्रीय संगीत से चित्रपट संगीत का क्या संबंध रहा और शास्त्रीय संगीत पर उसका क्या प्रभाव पड़ा देखना है। चित्रपट संगीत का युग सन् १९३१ में सर्वप्रथम सवाक् फिल्म

'आलमआरा' से प्रारंभ होता है।[1] इसके पूर्व देश में आंचलिक लोक संगीत, शास्त्रीय संगीत, रवीन्द्र संगीत, सुगम संगीत, नाट्य संगीत, गज़ल, कव्वाली, ठुमरी, टप्पा आदि का प्रचलन था। आरंभ में शास्त्रीय संगीतकार ही फिल्म संगीत की रचना करते थे। प्रत्येक फिल्म संगीतकार किसी न किसी सांगीतिक घराने के शागिर्द होते थे। महाराष्ट्र में अल्लादिया खाँ साहब, पंडित विष्णू दिगम्बर पलुस्कर, वझे बुआ, अब्दुल करीम खाँ इत्यादि संगीत कला के प्रमुख घरानों से संबंधित आद्य फिल्म संगीत निर्देशक थे। उनके पश्चात के संगीत निर्देशकों में गोविन्दराव टेंबे, प्रोफेसर बी. आर. देवधर, कृष्णराव फुलंब्रीकर, केशवराव भोले, सुरेश बाबू माने, मास्टर लहान आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।[2] ये संगीत-निर्देशक अपनी विशेषताओं को बनाये रखकर चित्रपट संगीत देते थे। तत्कालीन संगीत में ऑर्गन रहता था और तबला, सारंगी, जलतरंग, सितार आदि भारतीय वाद्यों का उपयोग विशेष रूप से होता था। गाने में मराठी ढंग की तानों और निराले अंतरों का रिवाज़ था।

पंजाब के क्षेत्र के संगीत निर्देशकों में गुलाम हैदर, श्यामसुंदर, बंगाल के संगीत निर्देशकों में आर. सी. बोराल, रायचंद, पंकज मलिक, हेमंत मुखर्जी, एस. डी. बर्मन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं जिन्होंने शास्त्रीय संगीत के आधार पर चित्रपट संगीत की धुनें बनाई हैं। इन संगीत निर्देशकों ने इन धुनों को अपने प्रांत के लोक संगीत से भी समृद्ध करने के सफल प्रयास किये। बंगाली चित्रपटों का संगीत बंगाली स्वभाव के अनुसार धीमा और सौम्य रहता था। प्रसिद्ध बंगाली निर्देशक आर. सी. बोराल तथा पंकज मलिक ने बंगाली चित्रपट संगीत कई सुधार किये ये सुधार धीरे-धीरे होते गये। गुलाम हैदर द्वारा प्रदर्शित चित्र 'खजांची'

---

1 माधुरी, पृ. २१, १९८४

2 श्री नारायण राव पटवर्धन, प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा प्राप्त, बड़ौदा १०.११.१९९०

ने चित्रपट संगीत को एक नवीन दिशा प्रदान की। गुलाम हैदर ने चित्रपट संगीत में दो-तीन ऐसी अभिनव बातें प्रस्तुत कीं जिनकी ओर पहले किसी का ध्यान नहीं था। पहली बात थी 'ल ल ला' अथवा 'हा हा हा' जैसे छोटे-छोटे टुकड़ों का संगीत धुनों में अंतर्भाव, दूसरी क्रांतिकारी विशेषता थी ताल-वाद्य ढोलक का चित्रपट संगीत में पहली बार प्रयोग, गुलाम हैदर की और कुछ विशेषतायें थीं जैसे उड़ती तर्जों का प्रयोग, अंतरे देना आदि। गुलाम हैदर के इस विशेषतापूर्ण संगीत को गायिका नूरजहाँ के प्रवाही, लचीले व मधुर कंठ ने और भी अधिक निरला और तेजस्वी स्वरूप प्रदान किया। अन्य संगीतकारों का ध्यान इस निरालेपन की ओर जाना स्वाभाविक भी था। अनिल विश्वास, नौशाद, खेमचंद प्रकाश, श्याम सुंदर आदि तत्कालीन संगीत निर्देशकों ने गुलाम हैदर के निरालेपन को, उसकी सामर्थ्य को जान लिया। परंतु उसका अंधानुकरण करने के बजाय उनमें से हरेक ने अपनी एक-एक प्रणाली प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया, और उनमें से बहुतों ने इस प्रयत्न में सफलता भी पाई इसमें संदेह नहीं है। अनिल विश्वास, खेमचंद प्रकाश, नौशाद, श्यामसुंदर, पंडित अमरनाथ, वसंत देसाई, एस. डी. बर्मन, सज्जाद और कुछ काल के पश्चात रोशनलाल आदि संगीत निर्देशक अपनी स्वतंत्र कला साधना को लेकर रसिकों के सामने आये। इन संगीत निर्देशकों की एक विशेषता यह थी कि इन सभी का संगीत विषयक ज्ञान शास्त्रीय अध्ययन पर आधारित था। इस समय का हर एक संगीत निर्देशक चित्रपट संगीत को अपना कुछ सौन्दर्य युक्त निरालापन देता दिखाई देगा।

खेमचंद प्रकाश की विशेषता यह थी कि वे शास्त्रीय संगीत के साथ राजस्थानी संगीत का मिश्रण करके धुनें बनाते थे। श्यामसुंदर मुल्तान के थे अत: उनके संगीत में मुल्तानी ढंग की छाप थी। अनिल विश्वास बंगाल के थे परंतु उन्होंने विभिन्न संगीत प्रणालियों का अध्ययन किया और

उनमें अच्छी-अच्छी विशेषताओं को उठाकर, उस पर अपनी विशेषताओं का संस्कार करके अभिनव शैली का निर्माण किया। उस समय के कई चित्रों ने अनेक कारणों से प्रसिद्धि प्राप्त की पर उनमें प्रधान था उन चित्रों का शास्त्रीय संगीत पर आधारित लालित्यपूर्ण संगीत। इन चित्रपटों में, 'मालती माधव, शबाब, हमदर्द, बसंत-बहार, अनारकली, देवता, कोहेनूर, बैजू बावरा, झनक झनक पायल बाजे, आँधियाँ, पतिता, चोरी चोरी, दाग आदि असंख्य चित्र हैं।

उस्ताद अली खाँ ने, 'चित्रलेखा' फिल्म में संगीत निर्देशन किया था।[1] उन्होंने इस चित्र का पूरा संगीत भैरवी राग में दिया था।[2] हर एक गीत के लिये उन्होंने भैरवी का प्रयोग किया था, इतना ही नहीं पार्श्व संगीत के लिये भी उन्होंने भैरवी का ही प्रयोग किया था। इन सभी संगीत निर्देशकों ने चित्रपट संगीत की लोकप्रियता को बढ़ाया और प्रतिष्ठा भी दिलायी।

इसके पश्चात् शंकर-जयकिशन की जोड़ी चित्रपट संगीत के क्षेत्र में अवतीर्ण हुई और फिर एक बार चित्रपट संगीत में नया युग निर्माण हुआ। उन्होंने बड़ा ही आसान, विविधतापूर्ण और रुचिकर संगीत देना शुरू किया। पहले ही लोकप्रियता के पथ पर अग्रसर संगीत अब लोकप्रियता की चोटी पर पहुँचने लगा इस लोकप्रियता को बढ़ाने में सी रामचंद्र, सलिल चौधरी, रवि, कल्याणजी, आनंद जी, मदन मोहन, जयदेव, लक्ष्मीकांत प्यारेलाल आदि संगीत निर्देशकों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

प्रारंभ में फिल्म कलाकार स्वयं अपने गीत गाते थे। फिर फिल्मों में पार्श्व गायन प्रारंभ हुआ।

---

१ प्रत्यक्ष फिल्म देखकर
२ " " "

पार्श्व गायक - गायिकाओं में लता मंगेशकर, मन्नाडे, मुकेश, मुहम्मद रफी, हेमंतकुमार, तलत महमूद, किशोर कुमार, आशा भोंसले, ऊषा मंगेशकर, सुमन कल्याणपुर, महेन्द्र कपूर लोकप्रिय हुये हैं।

प्रसिद्ध पार्श्व गायक स्वर्गीय मुहम्मद रफी ने किराना घराने के बहरे वहीद खाँ से शास्त्रीय संगीत की शिक्षा प्राप्त की।[1] मुहम्मद रफी का गायन उनके मधुर कंठ, विशेष भरावदार आवाज़ स्वरों एवं शब्दों की स्पष्टता के लिये विशेष आकर्षक रहा हैं। इनके गाये अनेक गीत शास्त्रीय संगीत के रागों पर आधारित हैं। उदाहरणार्थ राग हमीर पर आधारित, 'मधुबन में राधिका नाचे रे।', राग मालकौंस पर आधारित, 'मन तरपत हरि दरसन को आज' विशेष लोकप्रिय हुये हैं।

शास्त्रीय संगीत की राग पद्धति पर आधारित सर्वाधिक गीत गाने वालों में मन्ना डे का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इनकी शास्त्रीय संगीत पर आधारित विशेषलोकप्रिय रचना, 'केतकी गुलाब जूही फूले' वसंत राग पर आधारित हैं। इसमें पंडित भीमसेन जोशी ने इनका साथ दिया हैं। मिश्र भैरवी पर आधारित, 'लागा चुनरी में दाग छुपाऊँ कैसे' आपका गीत अत्यधिक लोकप्रिय रहा हैं। मन्नाडे का पार्श्व गायन शास्त्रीय संगीत के रागात्मक और रसात्मक आस्वाद का अनुभव कराता हैं।

लता मंगेशकर ने संगीत के माध्यम से फिल्म संगीत अपूर्व सेवा की हैं। संगीत का वातावरण उन्हें घर से ही मिला। आपके गाये अनेक गीत शास्त्रीय संगीत के रागों पर आधारित गीत हैं। नट बिहाग पर आधारित गीत, 'झनझन पायल बाजे', भीमपलासी की रचना, 'मेघ छाये आधिरात', बहार राग पर आधारित गीत, 'पवन दिवानी न माने' बहुत लोकप्रिय हुये हैं। इनके मधुर कंठ स्वर के प्रशंसक केवल भारत में ही नहीं अपितु संसार

1 माधुरी, १९६४, पृ. २०

भर में फैले हैं। इन्हें सर्वश्रेष्ठ गायिका का सम्मान भारत सरकार ने इनकी संगीत सेवाओं के लिये प्रदान किया है।

इस प्रकार फिल्म संगीत के इतिहास का सर्वेक्षण करने पर हम पाते हैं कि सजीव फिल्म संगीत अर्थात आज भी जिसे उतनी लोकप्रियता प्राप्त है ऐसे चित्रपट संगीत के निर्माता, निर्देशकों के अलावा उनको गाने वाले पार्श्व गायकों और गायिकाओं ने भी शास्त्रीय संगीत की साधना की थी; और यही कारण था कि वे इन ५० सालों के फिल्म संगीत के जीवनाकाश में एकछत्र राज्य कर सके थे। आज हमें उनकी टक्कर के न तो निर्देशक ही मिल रहे हैं और न गायक गायिका ही। लता मंगेशकर और आशा भोंसले के घर में ही शास्त्रीय संगीत की परंपरा थी और उन्होंने बाल्यकाल से ही शास्त्रीय संगीत की साधना की थी। और कला की ऊँचाईयों को छूने के बाद भी उन्होंने अपनी साधना को बढ़ाया था। मोहम्मद रफी और मुकेश ने शौकिया गाने वालों के रूप में फिल्म-जगत में प्रवेश किया, परंतु बाद में उन्होंने विधिवत शास्त्रीय संगीत की शिक्षा ली और रियाज भी किया। मन्ना डे पहले से ही शास्त्रीय संगीत की साधना में रत थे। इसके अतिरिक्त शास्त्रीय संगीत गायक एवं गायिकाओं ने भी फिल्म संगीत को अपनी सेवायें अर्पित की हैं। इस क्रम में डी. वी. पलुस्कर, उस्ताद अमीर खान, उस्ताद बड़े गुलाम अली खाँ, पंडित भीमसेन जोशी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। गायिकाओं में किशोरी आमोणकर, शोभा गुर्टू, एवं परवीन सुलताना का नाम आता है।

शास्त्रीय संगीत पर आधारित फिल्मी गीतों ने ही जनप्रियता के कीर्तिमान स्थापित किये हैं। आज ३० से ४० साल के बाद सुनने पर भी वे गीत नवीनता, ताजगी, और स्फूर्ति से भरे-पूरे हैं। इन गीतों

के अलावा असंख्य गीतों ने जो हलके संगीत से युक्त हैं, कुछ पाश्चात्य गीतों की नकल हैं लोकप्रियता अवश्य प्राप्त की पर इनकी आयु चार-छः मास से अधिक नहीं रही है। इनके प्रति जनाकर्षण समाप्त होने के बाद फिर किसी ने इन्हें सुनने की इच्छा व्यक्त नहीं की। अमरता शास्त्रीय संगीत पर आधारित गीतों को ही प्राप्त हुई है।

प्रस्तुत है कुछ फिल्मी गीतों की राग आधारित सूची —

क्र.	फिल्म का नाम	गीत	राग का नाम
१	बैजू बावरा	मोहे भूल गये साँवरिया	भैरव
२	वही	ओ दुनिया के रखवाले	दरबारी कान्हड़ा
३	वही	तू गंगा की मौज मैं	भैरवी
४	वही	मन तरपत हरिदरसन को आज	मालकौंस
५	मुगले आज़म	मोहे पनघट पर नंदलाल	जंगला + गारा
६	कोहेनूर	मधुबन में राधिका नाचे	हमीर
७	शबाब	मन की बीन मतवारी	बसंत बहार
८	नौ बहार	ए री मैं तो प्रेमदिवानी	भीमपलासी
९	बरसात की रात	गरजत बरसत सावन आयो	गौड़ मल्हार
१०	चित्रलेखा	काहे तरसाये जियरा	कलावती
११	वही	मन रे तू काहे न धीर धरे	यमन कल्याण
१२	अनुराधा	हाय रे वो दिन क्यूँ ना आये	कलावती
१३	वही	कैसे दिन बीते कैसे बीती रतियाँ	तिलक कामोद + श्याम कल्याण

क्र.	फिल्म का नाम	गीत	राग का नाम
१४	आनंद	ना जिया लागे ना	मालगुंजी
१५	छाया	छम छम नाचत	बसंत बहार
१६	मेरी सूरत तेरी आँखें	पूछो ना कैसे मैंने रैन बितायी	अहीर भैरव
१७	बुज़दिल	झन झन पायल बाजे कैसे जाऊँ	नट बिहाग
१८	शर्मीली	मेघा छाये आधी रात	पटदीप
१९	मुनीमजी	पायल हिरनी बन बन डोले	शहाना
२०	विद्या	पवन दिवानी न माने	बहार
२१	गाइड	पिया तो से लागे नैना रे	खमाज
२२	चोरी चोरी	रसिक बलमा	भूप कल्याण
२३	सांझ और सवेरा	अजहूँ ना आये बालमा	सिंध भैरवी
२४	लाल पत्थर	रे मन सुर में गा	यमन
२५	देवता	कैसे जाऊँ यमुना के तीर	भैरवी
२६	अनारकली	जाग जाग दर्दे इश्क जाग	बागेश्वरी
२७	आज़ाद	राधा ना बोले ना बोले	बागेश्वरी
२८	सती नारी	तुम नाचो रस बरसे	यमन कल्याण
२९	पाकीज़ा	ठाड़े रहियो	मांड
३०	बूंद जो बन गयी मोती	अँखियाँ तरसन लागीं	गौड़ मल्हार + मेघ

क्र.	फिल्म का नाम	गीत	राग का नाम
३१	सीमा	मन मोहना बड़े झूठे	जैयजयवन्ती
३२	मैं सुहागन हूँ	गोरी तोरे नैनवा कजर बिन कारे	देस
३३	भाभी की चूड़ियाँ	ज्योति कलश झलके	देशकार + भूपाली
३४	कल्पना	तू ही मेरा प्रेम देवता...	ललित
३५	देवदास	दुख के अब दिन बीतत नाहीं	देस
३६	वही	बालम आन बसो मोरे मन में	काफी
३७	स्वर्ण सुंदरी	कुहू कुहू बोले कोयलिया	सोहनी
३८	नरसिंह भगत	दर्शन दो घनश्यामनाथ	केदार
३९	गुड्डी	बोल रे पपीहरा	मियाँ मल्हार
४०	सरस्वतीचंद्र	चंदन सा बदन चंचल	यमन
४१	चौदहवीं का चाँद	चौदहवीं का चांद हो या	पहाड़ी
४२	कलफ मास्टर	ऐ दिल अब कहीं न जा	भैरवी
४३	झनक झनक पायल बाजे	जो तुम तोड़ो पिया मैं नाहीं	भैरवी
४४	वही	नैन सों नैन नाहीं मिलाओ	बागेश्री
४५	परिचय	मितवा बोले मीठे बैन	यमन +
४६	अमर प्रेम	रैना बीती जाय (तोड़ी)	श्यामकेदार
४७	दस्तक	माई री	बागेश्री + भिन्न षड्ज
४८	दुल्हन एक रात की	मैंने रंग ली आज चुनरिया	पीलू

क्रमांक	फिल्म का नाम	गीत	राग का नाम
50	बावर्ची	मोरे नैना बहाये	गौड़ मल्हार + नट भैरव
५१	वही	तुम बिन जीवन	भिन्न षड़ज + कौशिकध्वनि
५२	मेरा साया	नैनों में बदरा छाये	भीमपलासी
५३	अनपढ़	जिया ले गयो जि मोरा	यमन
५४	मदहोश	मेरी याद में तुम ना आँसू	आसावरी
५५	बावरे नैन	दिल जलता है तो जलने दे	दरबारी कान्हड़ा
५६	सावित्री	तुम गगन के चंद्रमा	यमन कल्याण
५७	वही	सखी री पी को नाम	बिहाग + बिहागड़ा
५८	वही	कभी तो मिलोगे	कलावती
५९	संत ज्ञानेश्वर	जोत से जोत जगाते चलो	भैरवी
६०	लाल किला	लगता नहीं है दिल मेरा	यमन कल्याण
६१	संगीत सम्राट	सप्तसुर तीन ग्राम	यमन कल्याण
६२	वही	झूमती चली हवा	सोहनी
६३	रानी रूपमती	उड़जा भँवर	दरबारी कान्हड़ा
६४	वही	आ लौट के आजा मेरे मीत	मेघ
६५	जनम जनम के फेरे	जरा सामने तो आओ	शिवरंजनी
६६	सुर संगम	मैं का पिया बुलावे	कलावती
६७	रागिनी	छोटा सा बालमा	मिश्र रागेश्री
६८	गुड्डी	हमको मन की शक्ति देना	केदार
६९	मेरा साया	मेरा साया साथ-साथ होगा	नंद
60			

यद्यपि सिनेमा के गीत हल्की-फुल्की धुनों पर आधारित रहते हैं, फिर भी उनमें जो ताज़ापन और आकर्षण रहता है उससे शास्त्रीय संगीतज्ञ मर्मज्ञों का मन भी एक बार डोल उठता है इसके मुख्य कारण हैं गीत के सुंदर बोल, मधुर कंठ और वृंद-वादन का संयोजन।

इस प्रकार फिल्मी शास्त्रीय संगीत पर आधारित गीतों के प्रति जन रुचि को देखते हुये यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि किस कारण से सामान्य जनता शास्त्रीय संगीत पर आधारित फिल्मी गीतों का तो स्वागत करती है; जबकि शास्त्रीय संगीत सुनना पसंद नहीं करती। इसके कारण यह हो सकते हैं; एक तो साधारण जन शास्त्रीय संगीत को समझ नहीं पाता क्योंकि मुगल-काल में शास्त्रीय संगीत दरबारों में कैद हो जाने के कारण साधारण जनता का उससे सम्पर्क पूर्णत: छूट गया था। इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह था कि मुगल-काल में संगीत के कला-पक्ष को महत्व देकर चमत्कारी संगीत कला के विकास पर अधिक ध्यान देने के कारण कला के भाव-पक्ष की पूर्णत: उपेक्षा होने के कारण कला का लोकरंजन गुण कमज़ोर होता गया। अत: धीरे-धीरे समय के प्रवाह के साथ हमारा शास्त्रीय संगीत कुछ लोगों की बपौती बन कर रह गया।

वस्तुत: संगीत की चर्चा जहाँ आरंभ होती है, वहाँ एक वस्तु स्वत: अनिवार्यत: स्पष्ट हो जाती है कि किसी भी प्रकार के संगीत का प्रथम प्रभाव और गुण, 'लोकरंजन' करना है; वह चाहे शास्त्रीय संगीत हो अथवा विभिन्न प्रदेशों का लोकसंगीत हो। 'संगीत' से पूर्व 'शास्त्रीय' शब्द लग जाने से एक बात प्रकट होती है कि ऐसा संगीत जो शास्त्र की दृष्टि से पूर्णत: निर्दोष तो हो, किंतु आंतरिक लोकरंजन की दृष्टि से भी वह पर्याप्त सक्षम हो।

फिल्म संगीत में शास्त्रीयता केवल वहीं तक मिलती है, जहाँ तक वह जनता जनार्दन के चित्त को अनुरंजित कर सकने में समर्थ है। विभिन्न अवसरों पर अनुभूतियों को प्रेषित करने के लिये अनुकूल रागों का प्रयोग फिल्मों में किया गया है। लेकिन ऐसे गीत बहुत कम मिलेंगे जो पूर्णतः शास्त्र अनुकूल हों। क्योंकि वहाँ रंजकता प्रधान हो जाती है, वहाँ संगीत को बाह्य बंधनों में जकड़कर नहीं रखा जा सकता। इस जनरंजन की प्रवृत्ति के कारण फिल्म संगीत लोगों को शास्त्रीय संगीत का परिचय देने में समर्थ हो सका है, तथा कुछ हद तक लोकरुचि को शास्त्रीय संगीत की ओर मोड़ने में सफल अवश्य हुआ है।

अतः फिल्मों में शास्त्रीय संगीत का प्रयोग फिल्म संगीत और शास्त्रीय संगीत दोनों के लिये ही हितकर है। ऐसा करने से शास्त्रीय संगीत जनता के अधिक निकट आयेगा, वह उसमें रुचि लेगी उसे सीखेगी तथा अंततोगत्वा यह तथ्य शास्त्रीय संगीत के विकास में सहायक सिद्ध होगा। दूसरी ओर शास्त्रीय संगीत के प्रयोग से फिल्म संगीत निर्देशकों को पाश्चात्य संगीत की ओर व्यर्थ की दौड़ नहीं लगानी पड़ेगी; और फिल्म संगीत का गिरता हुआ स्तर अधिक ऊँचा उठ सकेगा। लोकप्रियता की दृष्टि से आज भी शास्त्रीय संगीत पर आधारित फिल्मी गीत ही आगे हैं।

अतः यह धारणा कि फिल्म संगीत शास्त्रीय संगीत के ह्रास के लिये जिम्मेदार है पूर्णतः निरर्थक है। अब तक के विवेचन से सिद्ध होता है कि फिल्म संगीत ने शास्त्रीय संगीत को लाभ ही पहुँचाया है। जहाँ तक नुक्सान का सवाल है फिल्म संगीत शास्त्रीय संगीत को कोई नुक्सान नहीं पहुँचा सकता है। शास्त्रीय संगीत का अपना समझदार श्रोता वर्ग है; और वह फिल्म संगीत की ओर अपनी रुचि विकसित नहीं कर सकता। एक बार शास्त्रीय

संगीत सुनने से आनंद आने पर बहुत कम फिल्मी गाने उस श्रोता को अपनी ओर आकर्षित कर पाते हैं।

जहाँ तक लोकप्रियता का सवाल है इसे फिल्में केवल संगीत के ही क्षेत्र में नहीं अपितु खान-पान, रहन-सहन, जीवन मूल्यों हर क्षेत्र में विकृत कर रही हैं। इसका उत्तरदायित्व आज के सामाजिक ढाँचे का ही है। व्यक्तिगत लाभ के सिद्धांत ने संगीतकारों को इतना अधिक व्यावसायिक बना दिया है कि वे रुचि परिष्करण की ओर ध्यान ही नहीं दे पा रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि आज फिल्मों में नब्बे प्रतिशत धुनें सस्ती हैं। इतना मधुर और मदभरा संगीत समाप्त होकर इतना हीन स्तर का और हलके दर्जे का संगीत कब से शुरु हो गया? ठीक बताना कठिन है। संगीत की मधुरिमा धीरे-धीरे घटती गयी और वह कर्कश होता गया। प्राय: 'जंगली जानवर', 'बदतमीज' जैसे चित्रपटों से संगीत क्षेत्र में धीरे-धीरे यह शोर-शराबा प्रचलित होने लगा। अब तो हिन्दी चित्रपटों का गीत यानि मन चाहा शोरशराबा और मस्तिष्क को बधिर करने वाली चिल्लाहट यही परिभाषा रूढ़ होने जा रही है। 'हंगामा हो गया' (अनहोनी) जैसी चीजें, 'दुनिया लोगों की (अपना देश) ऐसे गानों से लोगों का मनोरंजन होता है ऐसा कहना मूर्खता है। 'अग ये जवळ ये लाजू नको' (कहानी किस्मत की) का गीत सुनते समय अपने पर ही शर्म आती है। कई चित्रपटों का संगीत सुनने के बाद यह जानना मुश्किल होता है कि यह गद्य है अथवा पद्य। इसका मुख्य कारण है गिने-चुने लोगों की संगीत क्षेत्र में रहने वाली ठेकेदारी। पोस्टरों को सरसरी नजर से देखें तो कोई भी देख सकेगा कि लक्ष्मीकांत प्यारेलाल, राहुल देव बर्मन तथा कल्याणजी आनंदजी ने बहुसंख्यक चित्रपटों को अपनी जेब में कर लिया है। बिना आगे-पीछे सोचे

इकरार नामों पर हस्ताक्षर किये जाने से अनेक चित्रपटों का संगीत निर्देशन करते समय संगीतकार पर बोझ पड़ता है फलत: किसी भी गाने पर कष्ट उठाकर तर्ज बनाने का प्रयत्न नहीं किया जाता। जल्दबाजी का फल यह निकला कि तर्जें घटिया बनने लगी हैं। उन्हीं तर्जों को बारबार सुनने का मोह (मजबूरन) संगीतकारों में निर्माण होने लगा है जाने क्यों लोग मुहब्बत करते हैं (मेहबूब की मेंहदी) और 'एक चेहरे पर कई चेहरे लगा लेते हैं लोग' (दाग) ये तर्जें आमतौर पर एक सी ही हैं, 'चल सन्यासी मंदिर में' पंक्ति के स्वर सीधे, 'धीरे धीरे चल चांद गगन में' (लव मैरेज) फिल्म के गीत से जाकर टकराते हैं। 'गरीबों की सुनो' (दस लाख) और 'औलादवालो फूलो फलो' (औलाद) इन तर्जों में कोई ज्यादा फर्क नहीं है।

अपने समय के माने हुये संगीतकारों जयकिशन ने साजिश, इंटरनैशनल क्रुक, सन्यासी, धूप-छांव और नौशादजी ने माय लव तथा आइना जैसे चित्रपटों को बहुत ही हलका संगीत दिया है। इस दुरावस्था को जयकिशन, सचिन देव बर्मन, मदनमोहन, वसंत-देसाई जैसे श्रेष्ठ संगीतकारों की मृत्यु ने और भी गहरा कर दिया।

कुछ उदीयमान संगीतकार भी कोई नई राह बनायेंगे इस बात की कोई आशा नहीं दिखाई देती। नूतन संगीतकारों में से राजेश-रोशन तथा रवीन्द्र जैन की जड़ें जम गई हैं। राजेश-रोशन का दिया हुआ जूली फिल्म का संगीत अच्छा था, पर उसके बाद बिलकुल अंधेरा। रवीन्द्र जैन के भी दो-तीन चित्रपटों के बाद (चोर मचाये शोर, गीत गाता चल, चितचोर) किसी तर्ज में नवीनता नहीं रही। यही कारण है कि आज इतनी फिल्मों का निर्माण होने पर भी पूरे साल में दो-एक अच्छी तर्जों का सुनाई देना भी मुश्किल हो गया है।

अपनी कमजोरियों की कैफियत देते हुये संगीतकार, कहते हैं कि लाऊड म्यूजिक लोगों को पसंद है इसलिये हम देते हैं; जैसी माँग वैसी पूर्ति तब 'चितचोर' का दिया हुआ साफ्ट म्यूजिक क्यों लोकप्रिय हुआ? आँधी की तर्जों में शोर न होते हुये भी वे लोकप्रिय क्यों हुईं? यही कारण है कि आज लोकरुचि फिल्मी संगीत से संतुष्ट न होने के कारण शास्त्रीय संगीत पर आधारित गजल गायकी की ओर मुड़ गई है। यही कारण है आज गजल गायक गुलामअली, मेंहदीहसन, पंकज-उद्दास, अनूप-जलोटा, चित्रा-जगजीतसिंग, पीनाज मसानी, तलत अजीज की गायी गजलें अत्यधिक लोकप्रिय हो रही हैं। यदि चित्रपट संगीत में आवश्यक सुधार नहीं किये गये तो चित्रपट संगीत का भविष्य अवश्य ही अंधकारमय हो जायेगा। वास्तव में चित्रपट संगीत के स्तर को ऊँचा उठाने के लिये सर्वप्रथम फिल्म निर्माण के उद्देश्य व दृष्टिकोण में परिवर्तन होना चाहिये।

सबसे पहले फिल्म संगीत में पाश्चात्य संगीत के मिश्रण पर विचार करना आवश्यक है। हमारे अधिकांश संगीत निर्देशक भूलते हैं कि पश्चात्य धुनों की नकल करने पर परिणाम न भारतीय रहता है और न पाश्चात्य, और ऐसे संगीत की प्रायः पाश्चात्य आलोचक हँसी ही उड़ाते हैं। पाश्चात्य संगीत के तत्वों को ग्रहण करना बुरी बात नहीं है। पर वास्तव में अंग्रेजी शिक्षा ने हमें पाश्चात्य सभ्यता अथवा कला का एक अपूर्ण, थोथा व ऊपरी परिचय ही दिया है; तभी तो हम हलकी नकल से ही संतुष्ट हो जाते हैं। यह नहीं जानते कि जिन विदेशी धुनों पर हम वाह-वाह करते हैं, उनमें से अनेकों को अब विदेशी पुरानी और त्याज्य करार दे चुके हैं। दूसरों की नकल का यही तो परिणाम होता है। आज

कितने निर्देशक हैं जिन्होंने पांच-सात वर्ष पाश्चात्य संगीत की शिक्षा किसी योग्य शिक्षक से पाई होगी; केवल नये, विचित्र, नीयम-स्वतंत्र और उटपटांग प्रयोगों से हम संतुष्ट और आकर्षित हो जाते हैं। हम वास्तव में उनके सांस्कृतिक परिणामों पर तो विचार ही नहीं करते, उसके मानसिक और कलात्मक सौन्दर्य का हमें ध्यान ही नहीं आता, यह हमारी भूल है हमें अपनी संस्कृति, विचार-प्रणाली और भावना के संसार को समझ कर ही संगीत का निर्देशन करना चाहिये। पाश्चात्य संगीत के उन्हीं तत्वों को ग्रहण करना चाहिये जिनका भारतीय वातावरण के साथ आत्मसात सम्भव हो। पाश्चात्य संगीत के भारतीय चित्रपट संगीत में प्रयोग पर पंडित रविशंकर के विचार उल्लेखनीय हैं- "रॉक-एन्ड-रोल और जाज़ धुनों को जब हमारे धार्मिक, और सामाजिक तथा ऐतिहासिक चित्रपटों में प्रस्तुत किया जाता है तो मुझे दुख होता है। यह दुर्भाग्य है कि पाश्चात्य देश अथवा बड़े नगरों से छोटे-छोटे गांवों कसबों की सभ्यता का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। भारत के किसी भी धार्मिक नगर का सम्बन्ध पश्चिम के उत्तेजक रॉक-एन्ड-रोल अथवा जाज़ संगीत से हो सकता है, यह मेरी कल्पना से बाहर है।"[1]

इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं प्रो. हॉवर्ड बोटर राईट ने-" मैं समझता हूं कि कोई संगीतज्ञ जिसे अपने संगीत का सांस्कृतिक परिचय भलिभाँति है; तथा जिसे अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान है वह दो संस्कृति का इस प्रकार का मेल कराने के पक्ष में कदापि नहीं होगा। ज्ञान संपादन के लिये अथवा संगीत प्रणाली का आनंद लेने के लिये यदि कोई उसका अभ्यास करना चाहता हो यह एक बात है और इनमें से किसी

---

1 संगीत १९५८, नवम्बर, पृ. ४० 'संगीत साधकों से भेंट'

विचार भूमिका के न रहते हुये केवल अनुकरण के लिये उस दूसरी प्रणाली का अपनाया जाना दूसरी बात है। इन दोनों बातों में मतदन्तर है। एक जिम्मेदार और समझदार पश्चिमी कलाकार की भूमिका लेकर मैंने पौर्वात्य भारतीय संगीत का आस्वाद किस प्रकार लेना चाहिये इसका अध्ययन किया। फिर भी मैं इस पक्ष में नहीं हूँ कि पश्चिमी संगीतज्ञ उसकी किसी विचारधारा को अपनायें।

मैं यह स्वीकार करना चाहता था कि पौर्वात्य और पाश्चिमात्य संगीत की भेलपूड़ी न बनाई जाय; केवल एक दूसरे की परंपरा और संस्कृति के रक्षण में सहायक यदि कोई बात लेने व देने योग्य हो तो उसका स्वीकार किया जाय।"[1]

'प्रसिद्ध फिल्म संगीत निर्देशक अनिल विश्वास ने यद्यपि पाश्चात्य संगीत का ही अध्ययन अधिक किया है। फिर भी आप भारतीय संगीत में पाश्चात्य संगीत के सम्मिश्रण के पक्ष में नहीं हैं।'[2]

फिल्मों में लोक-संगीत और भाव-संगीत का आश्रय इसलिये आवश्यक है क्योंकि जनसाधारण संगीत की इन विधाओं को अधिक सरलता से समझ सकता है उसमें रस भी लेता है। लोक संगीत का अपना विशेष महत्व है। लोकगीतों का जन्म ग्रामीण जनता के हृदय में भावावेश के साथ हुआ और उसमें जनता ने मानों अपने प्राणों को रख दिया है, इसीसे वे चित्ताकर्षक होते हैं। किन्तु जिस प्रकार अन्य क्षेत्रों में निम्नकोटि की चीजें हैं, उसी प्रकार अन्य लोकधुनें भी निम्नस्तर की हैं; ऐसी धुनों का प्रयोग फिल्मों में नहीं होना चाहिये। लोकधुनों को फिल्मों में लेने से पहले उनका उचित संशोधित व

---

(1) सं. क. वि. १९६०, पृ. ३९३, 'भारतीय संगीत से मैंने क्या सीखा'

(2) सं. क. वि. १९४८, दिसम्बर, पृ. ३०, 'संगीत निर्देशक अनिल विश्वास --'

परिष्कृत स्वरूप निर्मित होना चाहिये।

फिल्म संगीत में रागदारी संगीत के प्रयोग के सम्बन्ध में बड़े मतभेद हैं। रागदारी संगीत फिल्मी संगीत के लिये उपयोगी नहीं माना जाता है इसके पीछे यह विचारधारा रहती है कि मस्तिष्क व हृदय की सभी विचारधाराओं, भावनाओं, क्रियाकलापों की अभिव्यक्ति, राग-रागिनियों द्वारा पूर्णतः संभव नहीं है। उपरोक्त विचार बिलकुल निराधार है। हमें भारतीय रागों से अनेक सुंदर, प्रभावोत्पादक एवं उपयुक्त स्वर संगतियाँ प्राप्त होती हैं। परंतु मानव जगत इतना विशाल है कि प्रायः सूक्ष्म संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिये हमें ऐसे अनेक स्वर-संयोगों की आवश्यकता पड़ती है जो एक राग के न हों। ऐसे स्वर-संयोगों का प्रयोग ठीक समझा जाना चाहिये पर वे विशेष राग के न होकर कम से कम भारतीय तो होंगे और होने भी चाहिये।

अतः फिल्म संगीत में कोई भी प्रयोग भारतीय संस्कृति और कलात्मक परम्पराओं का ध्यान रखते हुये किया जाना चाहिये; फिर वह प्रयोग शास्त्रीय संगीत का हो, भाव संगीत का हो अथवा भाव संगीत का हो या फिर विदेशी संगीत का हो।

फिल्म संगीत में शास्त्रीय संगीत का प्रयोग किये जाने पर दोनों ही विधाओं को लाभ होगा। फिल्म-संगीत जन रंजन की दृष्टि से अधिक आकर्षक व मधुर बन सकेगा और शास्त्रीय संगीत भी इस माध्यम से अपने लिये लोकरुचि का निर्माण कर सकेगा। इस मत पर कई संगीतज्ञों का कथन है शास्त्रीय संगीत का अपना श्रोता वर्ग है उसे जन-जन में पहुँचाने की क्या आवश्यकता है? इस सम्बन्ध में मेरा कथन यह है कि शास्त्रीय संगीत एक ऊर्ध्वमुखी कला है। यह सुनने वाले सीखने वाले को मानवीय भावनाओं के उच्च स्तर तक पहुँचाती है। इसलिये जितने अधिक से अधिक

लोग इसका मनन चिन्तन करेंगे उनकी विचारधारा सामान्य - लोक - स्तर से अपेक्षाकृत उच्च - स्तर पर होगी। अतः हम एक अच्छे व सुंदर समाज का निर्माण करने में सक्षम होंगे। आज वैसे भी सामाजिक - स्तर तेजी से हीनता और बुराइयों की ओर अग्रसर होता जा रहा है। उसे इस पतन से बचाने के लिये जन-जन में शास्त्रीय संगीत का प्रचार किया जाना आवश्यक है। फिल्म संगीत में शास्त्रीय संगीत के प्रयोग के संबंध में यहाँ कुछ शास्त्रीय संगीतज्ञों के विचार इस प्रकार हैं —

पंडित रविशंकर — "मुझे विश्वास है कि हमारे राग फिल्म संगीत को हराभरा रखने के अनंत स्त्रोत हैं। यदि हम फिल्म संगीत को समृद्ध नहीं बना सकते तो यह हमारी संगीत कला का दोष नहीं अपितु हमारी अयोग्यता समझी जायेगी। फिल्म संगीत तीन प्रकार का है - गायन, वादन, पार्श्व - संगीत।

भारतीय भावनाओं को व्यक्त करने के लिये भारतीय वाद्य ही सर्वोत्तम सिद्ध होते हैं। हमारे यहाँ शास्त्रीय और लोक संगीत का अपार भंडार है। प्रत्येक भाव और भावना को व्यक्त करने के लिये भिन्न - भिन्न धुन और लय के प्रकार हमारे यहाँ मौजूद हैं। अतः भारतीय जीवन से संबंधित चलचित्र प्रस्तुत करते समय हम उपयुक्त वातावरण के अनुकूल संगीत प्रयुक्त कर सकते हैं।"[1]

लता मंगेशकर — "मुझे बिलकुल भी आशा नहीं थी कि

---

१ संगीत, १९५८ नवम्बर, पृ. ४०

स्वर्गीय खेमचंद जी का, 'चन्दा रे जा रे जा रे ---' गीत अत्यधिक लोकप्रिय हो उठेगा। यद्यपि स्वयं मुझे यह गीत बहुत अच्छा ही नहीं लगा बल्कि मैं उसे उसके रिलीज होने तक दिन भर गुनगुनाया भी करती थी। इससे मुझे यह अनुभव हुआ कि जनता भी सस्ते तथा पाश्चात्य संगीत की कार्बन कापियों से ऊब चुकी है। अतः हमें चाहिये कि प्रत्येक फिल्म में तीन - चार गीत विशुद्ध शास्त्रीय परम्परा पर दिया करें। इससे शास्त्रीय संगीत के प्रति जनता में प्रेम उत्पन्न होगा।''1

अनिल विश्वास —

'के अनुसार 'यदि उचित रूप से उपयोग किया जाय तो, भारतीय-शास्त्रीय संगीत फिल्म व्यवसाय में अधिक उपयोगी हो सकता है।'2

श्रीमती सुमति मुटाटकर —

'चित्रपट संगीत में शास्त्रीय संगीत पर आधारित गानों ने जनसाधारण की रुचि को शास्त्रीय संगीत की ओर काफी हद तक खींचा है। वे गाने आज भी उतने ही लोकप्रिय हैं जितने २० या ३० साल पहले थे। चित्रपट संगीत में आवश्यकता के अनुरूप शास्त्रीय संगीत का आधार लेकर लोकरुचि को उन्नत किया जा सकता है। इसके साथ ही शास्त्रीय संगीत की भी उन्नति संभव हो सकती है।'3

श्री विमलेन्दु मुखर्जी —

चित्रपट संगीत वह भी राग

---

1 संगीत, १९५२ नवम्बर, पृ. ६४५ 'शास्त्रीय संगीत पर लता के विचार'
2 संगीत क.वि., १९४८ नवम्बर, पृ. ३०
3 प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा साभार, दिल्ली, २३.२.८८

आधारित संगीत ने सामान्य जन के मध्य शास्त्रीय संगीत की एक सुन्दर छवि अंकित करने का कार्य किया है। एस. डी. बर्मन, मदन मोहनजी, सी रामचंद्र, नौशाद आदि के प्रयास इस क्षेत्र में प्रशंसनीय हैं। परंतु शास्त्रीय संगीतज्ञ पूर्ण रूपेण इस कार्य को करने में समर्थ नहीं होंगे; क्योंकि शास्त्रीय संगीत के साथ संगीत के अन्य क्षेत्रों का ज्ञान भी इस सृजनात्मकता के लिये आवश्यक होगा।[1]

श्री छन्नूलाल मिश्र — "शास्त्रीय संगीत पर आधारित फिल्मी गानों ने जहाँ जनरुचि को शास्त्रीय संगीत की ओर मोड़ा है वहाँ उसने जनता में सौन्दर्य बोध भी जगाया है। अत: शास्त्रीय संगीत के कलाकारों को अपने प्रस्तुतिकरण के संबंध में और भी अधिक सतर्क होना पड़ेगा अन्यथा उनकी लोकप्रियता में कमी आ सकती है।[2]

कमलताई ताँबे — "चित्रपट संगीत ने शास्त्रीय संगीत के प्रचार में कोई सहायता नहीं पहुँचाई, अपितु जनरुचि को बिगाड़ा ही है। चित्रपट संगीत में शास्त्रीय संगीत का आधार लेना संभव नहीं है।"[3]

नियाज़ अहमद खान — "मैंने स्वयं फिल्मों में गाया है। कोहेनूर में, 'मधुबन में राधिका नाचे' गीत में तानें मैंने ही ली हैं। कई राग आधारित गीत आज भी उसी चाव से सुने जाते हैं। परंतु आज संगीतकार स्वयं शास्त्रीय संगीत

---

1 प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा साभार, खैरागढ़, २६.९.९०

2 " " " ", बनारस, २८.८.८९

3 " " " ", बम्बई, १३.१०.८९

के अच्छे जानकार नहीं हैं। यही वह कारण है कि रागों का प्रयोग वे कम्पोजिंग के समय नहीं कर पाते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि संगीतकार इस दिशा में प्रयास भी नहीं करते; क्योंकि शास्त्रीय संगीत पर आधारित धुनों को बनाने में मेहनत अधिक होती है।"1

यशवंत बुआ जोशी –

"राग आधारित फिल्म संगीत ने शास्त्रीय संगीत के प्रसार में अवश्य सहायता दी है। मैं इन सभी संगीत विधाओं को संगीत के अलग-अलग विभाग मानता हूँ, और प्रत्येक विभाग का महत्व अपने स्थान पर उतना ही है। फिल्म संगीत या सुगम संगीत नीचा है मैं ऐसा नहीं मानता।"2

पंडित जसराज –

"शास्त्रीय संगीत की उन्नति में फिल्म संगीत बहुत ज्यादा सहायक हुआ है। उप शास्त्रीय संगीत या राग आधारित फिल्म संगीत शास्त्रीय संगीत को आघात नहीं पहुँचाता बल्कि ये हमारे सहायक हैं ये हमारी ओर लोकदृष्टि को खोलने का कार्य कर रहे हैं। लताजी जब से गा रही हैं तब से हमारे देश के लड़के-लड़कियाँ चाहे बाथरूम में गा रहे हों, पर सुर में गा रहे हैं। इससे पहले ऐसा कभी नहीं हुआ।"

---

1 प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा साभार, बम्बई, 13.10.89
2 " " " ", बम्बई, 12.10.89
3 " " " ", बम्बई, 14.10.89

(ख) पाश्चात्य संगीत का प्रभाव

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत पर पाश्चात्य संगीत का क्या प्रभाव पड़ रहा है? उसका परिणाम क्या होगा? पाश्चात्य संगीत का प्रयोग हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में उपयोगी होगा? इन प्रश्नों पर विचार करने से पहले हमें यह समझ लेना आवश्यक है कि पाश्चात्य संगीत क्या है और हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत क्या है?

एक के बाद एक स्वरों के उस क्रमबद्ध उतार-चढ़ाव को जो रागात्मक संबंध की अभिव्यक्ति करता हो, रसों व भावों को उद्दीप्त करता हो उसे मेलडी कहेंगे।

कई स्वरों के एकसाथ उच्चारण को जो कर्ण कटु न हो उसे हार्मनी कहेंगे।

दि कोलम्बिया - विकिंग डेस्क एन्साइक्लोपीडिया में हार्मनी और मेलडी की परिभाषा इस प्रकार दी है –

"कुछ एक संगीतात्मक ध्वनियों के रसोत्पादक व क्रमबद्ध उतार-चढ़ाव को मेलडी कहते हैं जो भारतीय संगीत के राग का पर्याय माना जा सकता है।"[1]

"इसके विपरीत दो या दो से अधिक ध्वनियों के एक साथ उच्चारण को जिससे कई संघात (कार्डस) उत्पन्न होते हों, हार्मनी कहते हैं।"[2]

उपरलिखित हार्मनी तथा मेलडी की परिभाषाओं में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं –

---

१ दि कोलम्बिया - विकिंग डेस्क एन्साइक्लोपीडिया, पृ. ११४८

२ वही " " " " , पृ. ६६६३

मेलडी सांगीतिक स्वरों के एकल उच्चारण से निर्मित होती है जबकि हार्मनी दो या अधिक स्वरों के जो कार्डस बनते हैं उनके उच्चारण से निर्मित होती है।

भारतीय संगीत का विकास मुख्यतः राग की दिशा में हुआ है। अनेक नवीन रागों के निर्माण उनके संवर्धन और संप्रेषण की प्रथा चल पड़ी जो आज तक विद्यमान है। विभिन्न शैलियों का आविष्कार इन्हीं रागात्मक भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिये किया गया परंतु हार्मनी की ओर भारतीय संगीत न बढ़ सका। जैसा कि उपरोक्त परिभाषा में कहा गया कि एक साथ बजने वाले विभिन्न ध्वनि समूह हार्मनी बनाते हैं, इस आधार पर यदि हम सोचें कि हिन्दुस्तानी गायकी के साथ बजने वाले साज़ क्या हार्मनी की सृष्टि करते हैं, ऐसा समझना भ्रामक है। कारण वे सब साज़ हार्मनी नहीं वरन् गायक के अनुगामी स्वरों की संगति करते हैं। जहाँ दो गायक गा रहे हों वहाँ हार्मनी का स्थूल रूप तो अवश्य ही दीख पड़ता है पर वह वास्तव में हार्मनी नहीं है। यदि सही अर्थों में हार्मनी का कुछ आभास मिलता है तो वह तानपूरे के नाद में पाया जाता है जहाँ सा-सां-सां-प अथवा सा-सां-सां-म स्वर एक साथ बजते हैं।

भारतीय संगीत के पूर्ण तथा विपरीत पाश्चात्य संगीत कला का विकास हार्मनी की दिशा में ही अधिक हुआ है। इसमें एक से अधिक स्वरों का मेल होता है यथा सा-ग-प। 'हार्मनी के अध्ययन में कार्डस और उनके अंर्तसम्बन्धों का परीक्षण किया जाता है।' एक से अधिक स्वरों के समूह को कार्डस या संघात कहा जाता है। तानपूरे में यद्यपि चार तार होते हैं तथापि संघात दो स्वरों का ही होता है। पाश्चात्य संगीत में तीन स्वरों का संघात होता है जिसे ट्राई कार्डस कहते हैं। एक कार्ड के अलग-

अलग स्वर एक साथ ही अलग-अलग वाद्यों से निकलते और विलक्षण नाद की सृष्टि करते हैं। जैसे भिन्न-भिन्न स्वरों के सम्बद्ध प्रयोग, उतार-चढ़ाव, गमक, मींड आदि से अनेक विध रसों और भावों का संचार होता है ठीक उसी प्रकार भिन्न-भिन्न ध्वनियों के संकेतों में भी भिन्न-भिन्न भावों और रसों को उद्दीप्त करने की क्षमता रहती है। वास्तव में ये दोनों ही समान उद्देश्य तक जाने के दो अलग-अलग मार्ग के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं।

मुख्य संघात (कार्ड) सा-ग-प का होता है जिसमें सां को जोड़कर गुरु संघात बनाये जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि संघात का आधार अंतराल है निरपेक्ष स्वर नहीं।[1]

गुरु संघात (मेजर कार्ड) के स्वरों की दूरी हमेशा सा-ग-प जैसी होनी चाहिये। यदि म को आधार मानकर गुरु संघात बनाना हो तो म-ध-सां गुरु संघात बनेगा। सा-ग-प को गुरु संघात का और सा-ग॒-प को लघु संघात (माइनर टोन) का आधार मानकर अधिकतम निम्नलिखित छः गुरु और लघु संघात बन सकते हैं। यथा-

गुरु संघात (मेजर कार्ड)

१ सा ग प सां

२ सा ग ध सां

३ सा म ध सां

लघु संघात (माइनर कार्ड)

१ सा ग॒ प सां

२ सा ग ध सां

३ सा ग ध॒ सां

---

१ ध्वनि और सिद्धांत, प्रो. ललित किशोर सिंह, पृ. १०५-६

गुरु संघातों का प्रयोग सदैव गुरु ग्रामों के रागों में ही होता है और लघु संघात का प्रयोग लघु ग्राम के रागों में किया जाता है।

स्थूल रूप से देखे जाने पर गुरु संघात और लघु संघात के क्रमांक पर प्राप्त संघात के स्वरों में केवल गांधार की शुद्धता और विकृति का ही अंतर है किन्तु इससे उनके प्रभाव में अत्यधिक अंतर पड़ जाता है। गुरु संघात प्रसन्नता और दृढ़ता का सूचक है जबकि लघु संघात हमेशा करुणा, खिन्नता तथा विकलता का सूचक है। सिर्फ अंतराल के क्रम परिवर्तन मात्र से दोनों के गुणों में इतना परिवर्तन दिखाई देता है।

'हेल्महोल्ज के अनुसार गुरु संघात के किसी भी भेद में कोई भी नये शौबिक स्वर नहीं बनते किन्तु उन्होंने अपनी विधि से यह प्रमाणित कर दिया है कि लघु संघात के प्रथम भेद में, 'ध् ध', द्वितीय में, 'म प' तथा तृतीय में, 'ग़ रे' की प्राप्ति होती है। उनके अनुसार शौबिक स्वरों के इसी भेद के कारण ही लघु संघात इतना भिन्न हो जाता है और दोनों संघातों से भिन्न-भिन्न भावों का उदय होता है।'[1]

ठीक भारतीय संगीत की भाँति पाश्चात्य संगीत में भी इष्ट संघातों के साथ एक आध स्वर मिलाकर अनिष्ट संघात बनाये जाकर एक विलक्षण आनंद की सृष्टि कराये जाने के उपरांत पुनः इसी इष्ट संघात पर लौट आया जाता है। यह ठीक वैसा ही है जैसा भारतीय रागों में आविर्भाव और तिरोभाव तथा अल्पत्व और बहुत्व।

हार्मनी और मेलडी के इस संक्षिप्त परिचय के उपरांत हम इस प्रश्न पर आ पहुँचते हैं कि इस संघात प्रक्रिया की कौन सी उपयोगिता भारतीय संगीत के परिप्रेक्ष्य में हो सकती है तथा भारतीय संगीत की मेलडी

---

१ 'ध्वनि और सिद्धांत' प्रो. ललित किशोर सिंह, पृ.११०

में यह हार्मनी सम्मिश्रण हमारे संगीत के लिये श्रीवर्धक हो सकता है या नहीं ?

'संगीत संसार में सर्वत्र मिलता है और उसके साथ ताल की व्यवस्था भी है। चाहे वह अत्यन्त परिष्कृत हो या निम्नश्रेणी का हो। केवल यूरोप को छोड़कर अन्य सभी देशों में मेलडी पर आधारित संगीत ही है। उसमें हार्मनी नहीं है। युरोप में भी हार्मनी की शुरुआत हुये केवल एक-दो शताब्दियाँ ही बीती हैं।'[1]

कलकत्ता के पत्रकारों ने प्रसिद्ध यूरोपीय वायलिन वादक यहूदी मेन्यूहिन से प्रश्न किया, क्या हार्मनी के प्रयोग से भारतीय संगीत का कायाकल्प हो सकता है? और क्या आप इसे भारतीय संगीत के लिये उपयोगी मानते हैं? तब उन्होंने उत्तर दिया था, "आप क्यों अपने संगीत को नष्ट करने पर तुले हुये हैं? हार्मनी का आपको इतना अधिक मोह क्यों है? क्या आप नहीं जानते ऐसा करने के बाद भारतीय संगीत की हत्या हो जायेगी।'[2]

ठीक यही बात शताब्दियों पूर्व रूसो ने कही थी, 'संगीत वास्तव में हार्मनी के उपयोग से जिसके द्वारा मेल भी प्रभावित नहीं होता, सम्पुष्ट नहीं होता।'[3]

कैप्टन विलर्ड के अनुसार, 'गायन में मेल-संवाद-क्रिया ने अत्यंत प्राकृतिक रीति से जन्म लिया है। मनुष्य का कंठ अथवा कंठस्वर प्रकृति की एक अमूल्य देन है तथा भावना की अत्यंत सूक्ष्म रीति से अभिव्यक्ति में उसकी बराबरी पियानो जैसा कोई वाद्य नहीं कर सकता है। आकाश में बादल छाने पर पृथ्वी पर छाया-प्रकाश का जैसा तरल खेल चलता है उसी प्रकार भावना का खेल है जो जो कंठसंगीत द्वारा ही अनुभव में आता है। हार्मनी कितनी

---

1 हिन्दुस्तान चे संगीत, कैप्टन विलर्ड, पृ. ५४

2 संगीत, जुलाई १९६८, पृ. ६

3 हिन्दुस्तान चे संगीत, कैप्टन विलर्ड, पृ. ५१

भी अच्छी हो पर उसमें यह बात नहीं होती। वायलिन और कुछ सुषिर वाद्यों के स्वतंत्र वादन में करीब-करीब कंठ गायन के जैसी ही धरा उत्पन्न होती है और वैसा ही आनंद प्राप्त होता है। फिर भी जिस प्रकार एक गायक के गले से एक बार में एक ही स्वर निकल सकता है उस अर्थ में हार्मनी नैसर्गिक ही नहीं है।'[1]

'बहुत से गायकों तथा वाद्यों को एकत्रित करके गणितसिद्ध नियमों के अनुसार गाने अथवा बजाने से ही सच्ची हार्मनी उत्पन्न होती है ऐसा नहीं है। पर ऐसी हार्मनी में गले की मिठास, वाद्यों का सौन्दर्य, अथवा काव्य का अर्थ वाद्यों के कोलाहल में लुप्त हो जाता है। तब ऐसे कोलाहल को हार्मनी ऐसा नाम रखा गया है, तब भी उसे संगीत बोला जाय या नहीं यही प्रश्न उठता है। क्योंकि अर्थ और भाव ध्वनियों के उस विराट समूह में खो जाते हैं। इसमें संगीत नष्ट हो जाता है।'[2]

कैप्टन विलर्ड के मतानुसार, 'जो लोग पूर्वदेशीय संगीत की प्रशंसा करते हैं, वह सर्वथा उचित है। किंतु यूरोपियनों को हार्मनी की इतनी अधिक आदत पड़ गयी है कि वे पौर्वात्य संगीत के प्रति इतने आकर्षित नहीं हो पाते जितना कि होना चाहिये। वास्तव में योरोपीय व भारतीय संगीत में ज़मीन आस्मान का फर्क है। हार्मनी के शास्त्र में पारंगत अनेक यूरोपियन विद्वानों को अधिकतर हिन्दी रागों में हार्मनी की शास्त्र शुद्ध रीति के अनुसार जोड़ मिलाने में हार माननी पड़ेगी।'

मेरा मतलब यह नहीं कि हार्मनी से मिलने वाला आनंद त्याज्य है। किंतु वह गौण अवश्य है क्यों कि भावनाओं को संचालित करने वाली वास्तविक शक्ति रागदारी में है, यह मेरा विश्वास है।

---

१ संगीत, १९५१, जून, पृ. २१, 'मेलडी तथा हार्मनी'

२ संगीत क. वि. १९५५, फरवरी, Music of Hindoostan, पृ. ६६, हिन्दी अनुवाद

भरपूर हार्मनी का परिणाम हमेशा एक निश्चित सधे हुये ढंग का होता है। चटकदार और नाजुक स्वरों से गुँथी हुई रागदारी मनुष्य का अंतःकरण हिला देती है, किन्तु हार्मनी के लिये यह संभव नहीं।

'इस प्रकार हृदय स्पर्शी करने वाला संगीत आजकल प्रत्येक देश में दुर्लभ हो गया है। आज यह बात स्कॉच, आयरिश, पोलिश, अथवा रशियन हर देश का व्यक्ति स्वीकार करता है। प्राचीन कालीन संगीत चाहे उसका रस आनंदमय हो अथवा दुखात्मक, मानव हृदय को छू लेता था।'[1] परंतु आज भी भारत में मेलडी पर आधारित इस प्रकार का संगीत विधमान है। भारतीय और पाश्चात्य संगीत के स्वरूप व उद्देश्य में इतना अधिक अंतर है जितना पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं में। दोनों का संगीत अपनी-अपनी सभ्यता, आदर्श व विचारधाराओं का प्रतीक है। संक्षेप में दोनों संगीत की विशेषतायें इस प्रकार हैं —

भारतीय संगीत का प्रमुख अंग जहाँ स्वर माधुर्य है, लयात्मकता व राग सौन्दर्य है, वहाँ पाश्चात्य संगीत का प्रधान अंग अनुरूपता (Harmony) है।

भारत में एक स्वर से गाये गीत को रुचिकर व आकर्षक मानते हैं किन्तु पश्चिम में अनेक स्वरात्मक गीत को महत्व दिया जाता है। यहाँ किसी एक राग के निश्चित स्वरों का महत्व है जब कि पाश्चात्य संगीत विविध स्वरों की अनुरूपता पर बल देता है।

भारत में संगीतात्मक प्रभाव की सृष्टि के लिये एक ही स्वर को केन्द्र माना जाता है, इसके विपरीत पाश्चात्य संगीतज्ञ 'सुर परिणाम के प्रत्येक स्वर को केन्द्र मानते हैं।'

पाश्चात्य संगीत में प्रत्येक स्वर की अपनी स्वतंत्र सत्ता

---

1 हिन्दुस्तान चे संगीत, कैप्टन विलर्ड, पृ॰ ५५, ५६, ५६

है कोई स्वर एक दूसरे से बद्ध नहीं है वे अपनी अलग-अलग वैयक्तिकता रखते हुये केवल बाह्य दृष्टि से एक-दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं। उनके स्वरों में पारिवारिक बंधन का अभाव है। भारत में ऐसा नहीं है, यहाँ संगीतज्ञ राग के अनुरूप स्वरों को एक दूसरे से सम्बन्धित करते हैं- संगीत की रचनात्मक प्रक्रिया में इस बंधन को तोड़ा नहीं जा सकता - उन स्वरों के अलग होने पर हम उसे दोष मान लेते हैं।

भारतीय संगीत में राग का संबंध किसी विशेष विधा, ताल, मात्रा, लय तथा समय से होता है। तद्नुरूप ही स्वरों का माधुर्य होता है। पाश्चात्य संगीत में ऐसा नहीं है - यहाँ चित्तवृत्ति या भाव का प्रयोग संगीत के उस संपूर्ण भाग को नियमित करने के लिये होता है। यहाँ राग विशेष के अनुरूप चित्तवृत्ति का संबंध स्वर माधुर्य, लय व राग से रहता है।

पाश्चात्य संगीतज्ञ पुनरुक्ति का पर्याप्त प्रयोग करते हैं। प्रत्येक बार उनके संगीत के रूप में कम भेद होता है, जबकि भारतीय संगीतज्ञ भिन्न-भिन्न प्रकार की सूक्ष्मतम संगीत तरंगों की सृष्टि में विश्वास करता है, वही संगीत का आकर्षण, सौन्दर्य व योग्यता का प्रतीक माना जाता है।

भारतीय संगीत में 'गमक' अथवा स्वरों के मोड़ व उतार-चढ़ाव के आकर्षण पर विशेष बल दिया जाता है। पाश्चात्य संगीत में यह 'गमक' अपने सौन्दर्य तथा आकर्षण का एक आकस्मिक महत्व तो रखते हैं किन्तु वे उसका अनिवार्य आभूषण नहीं हैं।

भारतीय संगीत को एकाग्रता की अत्यधिक आवश्यकता होती है ये एकाग्रता गायक और श्रोता दोनों में होती है। यहाँ संगीत का उद्देश्य श्रोताओं को भौतिक जगत और सांसारिक उपलब्धियों से ऊपर ले जाकर उसके मन और मस्तिष्क को शुद्ध बनाकर आध्यात्मिकता की ओर ले जाना है। पाश्चात्य संगीत तथा संगीतज्ञ के लिये यह अत्यन्त

दुष्कर कार्य है।

पाश्चात्य संगीत विविधता की ओर देखता है परंतु भारतीय संगीत एकता की ओर। हमारे संगीत में विविध स्वरों से निर्मित तानें ऐसे निकलती हैं जैसे मुख्य राग के साथ घुल मिल जाती हैं। यही कारण है कि भारतीय संगीत मानव जाति का अभिन्न अंग व उसका प्रेरक है। वह मानव-जीवन के हास्य, रुदन, आनंद, सुख-दुख सबका साथी है। हमारा संगीत एक व्यक्ति का गीत है किन्तु किसी व्यक्ति विशेष का नहीं वरन् एक मानव का है जो सम्पूर्ण मानव जीवन का है। भारतीय संगीत श्रोताओं के हृदय को बाँधता चला जाता है, उनके मर्म को झकझोर देता है। पाश्चात्य संगीत में इतनी प्रभावशीलता नहीं है, वह श्रोताओं को उत्तेजित करता है किन्तु आनंद की उस सीमा तक परमावस्था तक ले जाने में समर्थ नहीं होता है।

पाश्चात्य संगीत भावों तथा संवेगों को इतना संतुष्ट नहीं करता जितना बुद्धि को तथा मस्तिष्क को। क्योंकि वहाँ कंठ ध्वनि की विचित्रता द्वारा वे असंभव को भी प्राप्त करना चाहते हैं। भारत में गाने की रीति तो आवश्यक है ही किन्तु गीत पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है; किन्तु पश्चिम में श्रोतागण केवल गीत की रीति व आवाज़ के वैचित्र्य पर अधिक ध्यान देते हैं। भारतीय संगीतज्ञ पहले संगीतज्ञ फिर और कुछ हैं।

"पाश्चात्य संगीत जहाँ ईश्वर की कृतियों के आश्चर्य का वर्णन करता है भारतीय संगीत मानव और संसार में उस ईश्वर के आंतरिक सौन्दर्य का संकेत करता है। भारतीय संगीत उस अनंत असंभव मार्ग के लिये उस दैवी आनंद के प्रति श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करता है।"[1]

इसी प्रकार भारतीय संगीत कला अपने स्वर-माधुर्य, शब्द-सौन्दर्य, गाने की रीति वाद्यों के अनुरणात्मक आकर्षण, लय, राग, ताल तथा गमक इत्यादि द्वारा श्रोताओं को

---

1 संगीत पूर्व व पश्चिम, एच.जे. क्योलरोयटर पृ.२५

चकित तथा आनंदित कर देता है, उन्हें जिज्ञासा और कौतूहल से परिपूर्ण कर असीम आनंद की ओर ले जाता है। यह भारत की संस्कृति, उसकी सभ्यता, उसके आदर्शों व जीवन उद्देश्यों का प्रभाव है। प्रत्येक राष्ट्र की संस्कृति और सभ्यता भिन्न-भिन्न होने से उसके आदर्श और जीवन उद्देश्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं; और इस भिन्नता का प्रभाव राष्ट्रों की जनता के रहन-सहन, खान-पान, प्रत्येक क्रिया-कलाप पर पड़ता है। यही प्रभाव भारतीय संगीत कला तथा पाश्चात्य संगीत कला पर भी पड़ा है।

इस सम्बन्ध में प्रो॰ हावर्ड बोटर राईट का वक्तव्य उल्लेखनीय है, "मैं समझता हूँ कि कोई संगीतज्ञ जिसे अपने संगीत का भलिभाँति परिचय है, तथा जिसे अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान है वह दो संस्कृतियों का इस प्रकार का मेल कराने के पक्ष में कदापि नहीं होगा। ज्ञान-संपादन के लिये अथवा दूसरी संगीत प्रणाली का आनंद लेने के लिये यदि कोई उसका अभ्यास करना चाहता हो यह एक बात है और इनमें से किसी विचार भूमिका के न रहते हुये केवल अनुकरण करने के लिये उस दूसरी प्रणाली का अपनाना दूसरी बात है। इन दोनों बातों में महदन्तर है।

एक जिम्मेदार और समझदार पश्चिमी कलाकार की भूमिका लेकर मैंने भारतीय संगीत का आस्वाद किस प्रकार लेना चाहिये इसका अध्ययन किया। फिर भी मैं इस पक्ष में नहीं हूँ कि पश्चिमी संगीतज्ञ उसमें से किसी विचारधारा को अपनायें।

मैं यह संपादित करना चाहता था कि पौर्वात्य और पाश्चिमात्य संगीत की भेलपूड़ी न बनाई जाय। केवल एक दूसरे की परंपरा और संस्कृति के रक्षण में सहायक यदि कोई बात हो उसका स्वीकार किया जाय।"[1]

पश्चिमी वायलिन वादक यहूदी मेन्यूहिन भी

---

[1] संगीत, नवंबर १९६५, पृ. ३२

भारतीय तथा पाश्चात्य संगीत के सम्मिश्रण के कट्टर विरोधी हैं। उनके अनुसार, "पश्चिमीकरण को ही आधुनिकीकरण मानकर भारतीय संगीत को आरकेस्ट्रा में बाँधने और संगीतज्ञों के ऊपर एक 'कण्डक्टर' नियुक्त करने का जो प्रयास हो रहा है, क्या वह हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की सहज **प्रवृत्ति** के **प्रतिकूल** नहीं है? यह तो **असामयिक** और संगीत के विकास में नयी उलझनें उत्पन्न करने वाला कदम है। सर्वाधिक आश्चर्य की बात यह है कि जब पाश्चात्य संगीत इस आडम्बर से बचने का प्रयास कर रहा है, तब भारतीय संगीत पर इसे थोपा जा रहा है।"[1]

अमरीकी स्वरकार लुकास फास के मतानुसार, - "एक साथ पाँच-छह वाद्ययंत्रों को ही रखा जाना चाहिये। भारतीय वाद्यवृंद में इतने ही वाद्ययंत्रों को शामिल किया जा सकता है। इससे अधिक वाद्यपंत्रों का झुरमुट होने पर तो संगीत के लालित्य की हत्या होती है। भारतीय वाद्ययंत्रों में जो स्वाभाविक प्राणवत्ता है वह समाप्त हो रही है।[2]

सभी पाश्चात्य संगीतज्ञ जिन्होंने भारतीय संगीत का नजदीकी और गहराई से अध्ययन किया है। वे भारतीय और पाश्चात्य संगीत के मिश्रण किये जाने के कट्टर विरोधी हैं। प्रो. जिओव्हानी सिक्किंजी के अनुसार, "हार्मनी हिन्दुस्तानी संगीत की चीज नहीं है। हिन्दुस्तानी संगीत मेलडी प्रधान अर्थात राग-रागिनियों का संगीत है।"[3] इस संबंध में हिन्दुस्तानी संगीत के विद्वान संगीतज्ञों के मत भी पाश्चात्य संगीतज्ञों के मत के अनुरूप ही हैं। ये मत इस प्रकार हैं—

श्रीमती सुमति मुटाटकर —

सुमति जी के अनुसार शास्त्रीय संगीत पर पाश्चात्य संगीत का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता है न पड़ रहा है। वादन के क्षेत्र में वाद्यवृंद में हारमोनाइज़ करते हैं; या लाईट म्यूज़िक तक ही कुछ प्रभाव पड़ सकता है। दोनों की प्रकृति भिन्न होने के कारण

---

1 संगीत १९६५, नवंबर, पृ. ३३
2 संगीत १९६५, नवंबर, पृ. ३५
3 संगीत कला विहार, १९५६, नवंबर, पृ. ४८३

समन्वय असंभव है।[1]

श्री नारायणराव पटवर्धन –

पटवर्धनजी के मतानुसार भारतीय शास्त्रीय संगीत पर पाश्चात्य संगीत का प्रभाव किसी दृष्टि से भी नहीं पड़ रहा है। यदि लोकरुचि का मुद्दा लिया जाय तब भी कानवेन्ट में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों का आकर्षण पाश्चात्य संगीत की ओर अधिक है क्योंकि उन्हें शास्त्रीय संगीत सुनने का अवसर बहुत कम मिलता है। युवा वर्ग में यदि शास्त्रीय संगीत के प्रति जागरण और रुचि पैदा की जाय तो वे शास्त्रीय संगीत को भी अपना सकेंगे।[2]

श्री वसंत रानाडे –

रानाडे जी के मतानुसार भी भारतीय शास्त्रीय संगीत पर पाश्चात्य संगीत का कोई प्रभाव नहीं हो सकता क्योंकि पाश्चात्य संगीत का एक भी तत्व ऐसा नहीं है जिसका उपयोग भारतीय शास्त्रीय संगीत में किया जाय। शास्त्रीय संगीत के शास्त्र की दृष्टि से उसका अध्ययन कुछ सहायता प्रदान करता है। शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता पर भी पाश्चात्य संगीत किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डाल पा रहा है।[3]

कु. कमलताई ताँबे –

शास्त्रीय संगीत पर पाश्चात्य संगीत का कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है। दोनों का समन्वय संभव नहीं है, क्योंकि दोनों संगीत हर दृष्टि से एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं।[4]

१ प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा प्राप्त, दिनांक २३.२.८८, स्थान दिल्ली

२ प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा प्राप्त, दिनांक २४.१०.९१, स्थान बड़ौदा

३ प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा प्राप्त, दिनांक २६.१०.९१, स्थान बड़ौदा

४ प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा प्राप्त, दिनांक १२.१०.८९, स्थान बम्बई

श्री विमलेन्दु मुखर्जी —

श्री विमलेन्दुजी का मत है कि भारतीय शास्त्रीय संगीत पर पाश्चात्य संगीत का प्रभाव पड़ना असंभव ही है। दोनों का समन्वय भी उसी प्रकार का होगा जिस प्रकार तेल पानी को मिलाकर फ्रिज में रखा जाय। जब तक यह मिश्रण फ्रिज में रहेगा तब तक जमा रहेगा बाहर निकालते ही अलग हो जायेगा। क्योंकि दोनों संगीत की मूलभूत प्रकृति ही भिन्न है।1

श्री छन्नूलाल मिश्र —

के अनुसार शास्त्रीय संगीतज्ञों पर तो पाश्चात्य संगीत का प्रभाव नहीं है पर जनसामान्य पर अवश्य पड़ा है। परंतु यह प्रभाव अधिक दिनों तक स्थाई नहीं रहेगा। क्योंकि इसकी तेज रफ्तार तथा शोरगुल जनता अधिक दिनों तक सहन न कर पायेगी और फिर वह हमारे भारतीय संगीत की ओर मुड़ेगी। जैसा कि आज विदेशों में भी दृष्टिगोचर हो रहा है। वहाँ की जनता अब इस शोरगुल वाले संगीत से तंग आकर भारतीय संगीत में रुचि लेने लगी है।2

पंडित जसराज —

पंडितजी के अनुसार भारतीय शास्त्रीय संगीत पर पाश्चात्य संगीत का प्रभाव कुछ नहीं और कभी नहीं होगा। थोड़ा बहुत प्रभाव या उपयोग पाश्चात्य संगीत का सुगम संगीत के स्तर पर ही हो सकेगा। क्योंकी दोनों संगीत की धारायें भिन्न हैं, सोच-विचार अलग हैं। हमारे शास्त्रीय संगीत का रंग एक ही है वह या तो दूसरे संगीत पर हावी हो जायेगा या फिर पाश्चात्य संगीत हावी हुआ तो भी सुगम संगीत के स्तर पर कुछ बन पायेगा।3

---

1 प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा प्राप्त, दिनांक २६.९.१९९०, स्थान खैरागढ़
२ भेंटवार्ता ,दिनांक २८.८.८९ ,स्थान बनारस
३ भेंटवार्ता ,दिनांक 18.10.८९ ,स्थान बम्बई

श्री प्रभाकर कारेकर –

कारेकर जी के अनुसार पाश्चात्य संगीत का भारतीय शास्त्रीय संगीत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है। दोनों संगीत बिलकुल ही भिन्न होने के कारण इनका समन्वय हो ही नहीं सकता। वाद्य संगीत तक थोड़ा हो सकता है। इसके समन्वय के प्रयोग होते रहें कुछ निकलने वाला नहीं है।1

अजय पोहनकर –

पाश्चात्य संगीत का शास्त्रीय संगीत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है। दोनों का समन्वय करके नयी शैली का आविष्कार करने की कोशिश में दोनों का ही आनंद नहीं मिलेगा दोनों अधूरे-अधूरे लगेगें। हमारे और उनके दोनों के संगीत की प्रकृति और स्वभाव दोनों में ही अंतर है। मेरे ख्याल से गायन के क्षेत्र में ऐसा कोई प्रयोग संभव नहीं होगा।2

सविता देवी –

सविता देवी के मतानुसार भी पाश्चात्य संगीत का हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है। ये प्रभाव केवल सुगम संगीत तक ही सीमित है। पाश्चात्य वाद्यों का प्रयोग फिल्म संगीत में काफी हो रहा है।3

कु. सरला भिड़े –

के मतानुसार भी पाश्चात्य संगीत का भारतीय शास्त्रीय संगीत पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़

---

1 भेंटवार्ता, दिनांक ११.१०.८९, स्थान बम्बई.
2 भेंटवार्ता, दिनांक, १४.१०.८९, स्थान बम्बई.
3 भेंटवार्ता, दिनांक २३.२.८८, स्थान दिल्ली

रहा है। दोनों संगीत शैलियों के समन्वय द्वारा कुछ नई पद्धति के आविष्कार की जो प्रयोगशीलता चल रही है ये थोड़ी बहुत चलती रहेंगी। हरेक भूमि का अपना-अपना संगीत है और उसकी विशेषता अलग है और यह विशेषता अलग रहनी भी चाहिये। उपरोक्त प्रकार की जो प्रयोगशीलता चल रही है ये दो समानान्तर बहने वाली नदियों की विशेषता साथ-साथ देखने की प्रक्रिया है। पर ये दोनों नदियाँ मिल नहीं सकती हैं।'1

उपरोक्त हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत जगत के वयोवृद्ध और नवोदित कलाकारों तथा विद्वानों के मत भी पाश्चात्य संगीत जगत के विद्वानों के मतों से भिन्न नहीं हैं। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत और पाश्चात्य संगीत के समन्वय उसके परिणाम तथा पाश्चात्य संगीत के पड़ने वाले प्रभाव के संबंध में पाश्चात्य विद्वानों के मतों को जानने के बाद तथा हिन्दुस्तानी संगीत जगत के विद्वानों के मतों के आधार पर निष्कर्ष यही निकलता है कि पाश्चात्य संगीत व हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत दो भिन्न प्रकृति के संगीत हैं, दोनों दो भिन्न धारायें हैं इनका समन्वय असंभव है। जहाँ तक सुगम संगीत के क्षेत्र में ही पाश्चात्य संगीत का उपयोग हो रहा है और किया जा सकता है। पर अलग बात है कि पाश्चात्य संगीत पर आधारित सुगम संगीत भी अधिक दिन टिक नहीं पाता है। इसके अनेक प्रमाण फिल्म संगीत के हमारे सम्मुख ही हैं।

और जहाँ तक लोकप्रियता का प्रश्न है पाश्चात्य संगीत के आजकल अधिक प्रचलन के बाद भी हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है। क्योंकि शास्त्रीय संगीत सुनने वाला एक अलग वर्ग है और पंडित जसराज के शब्दों में, 'हमारे शास्त्रीय संगीत का एक ही रंग है और इस पर दूसरा कोई

1 भेंटवार्ता, दिनांक 12.10.८९, स्थान बम्बई, कु. सरला भिड़े

रंग नहीं चढ़ सकता।' अत: शास्त्रीय संगीत के प्रति रुचि रखने वाले वर्ग पर भी अन्य संगीत का ऐसा प्रभाव नहीं पड़ेगा कि शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता में बाधा उत्पन्न हो। अपितु पश्चिमी देशों की तरह कुछ समय बाद पाश्चात्य संगीत श्रवण करने वाला वर्ग अवश्य उस संगीत की चपलता, शोरगुल और मशीनीकरण से तंग आकर शांति की खोज में प्रकृति के नज़दीक हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की ओर ही आकर्षित होगा। इसका प्रमाण हमें पश्चिमी देशों की जनता से आज ही प्राप्त हो रहा है। वे भारतीय शास्त्रीय संगीत सीखने सुनने में आजकल अत्यधिक रुचि ले रहे हैं। इसके अतिरिक्त हमारे फिल्म संगीत के द्वारा भी यह सिद्ध होता है कि शास्त्रीय संगीत के राग आधारित फिल्मी गाने आज २०-३० सालों बाद भी उतने ही लोकप्रिय हैं। जबकि पाश्चात्य संगीत के आधार पर बनाई गयी फिल्मी धुनें मुश्किल से छ: माह भी लोक आकर्षण का केन्द्र नहीं रह पातीं।